वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 211
ISBN 978-93-80353-46-3

प्रथमाचार्य
श्री शांतिसागर महाराज

–रचयित्री –

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

भगवान शांतिनाथ जन्म, दीक्षा व निर्वाणकल्याणक दिवस–ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, 11 जून 2010 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र. फोन नं.- (01233) 280184, 292943
Website : www.jambudweep.org
E-mail : ravindrajain@jambudweep.org

COURTESY–JAIN BOOK DEPOT
C/o Shri Nabhi Kumar Manav Kumar Jain
C-4, Opp. PVR Plaza, Cannaught Place, New Delhi-1
Ph.-011-23416101-02-03/Website : www.jainbookdepot.com

द्वितीय संस्करण	वीर नि. सं. 2536, भाद्रपद शुक्ला 2	मूल्य
1100 प्रतियाँ	10 सितम्बर 2010	20/-रु.

श्री शांतिसागर जी महाराज की 55वीं पुण्यतिथि

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

–: निर्देशन :–

धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज

–: सम्पादक :–

कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

प्रथम संस्करण-सन् 2004, 2200 प्रतियाँ प्रकाशित

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन

जैनधर्म में मुख्य रूप से तीन रत्न माने गये हैं–देव, शास्त्र और गुरु। इन तीन रत्नों की उपासना करने से तीन रत्नों की प्राप्ति होती है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

चूँकि देव और शास्त्र की महिमा का ज्ञान हमें गुरुजनों के माध्यम से ही होता है अतः गुरु की महिमा सर्वाधिक मानी जाती है। आचार्य ने कहा भी है–

गुरुभत्तिसंजमेण य, तरंति संसार सायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मणमरणं ण पावेंति।।

प्रस्तुत पुस्तक में हम एक ऐसे महान गुरु की महिमा से परिचित होंगे, जिन्होंने बीसवीं सदी में जन्म लेकर धरती पर लुप्तप्राय हो रही मुनिपरम्परा को पुनरुज्जीवित किया था तथा जिन्होंने वास्तव में शान्ति के सागर बनकर समस्त प्राणियों को शांति का उपदेश प्रदान किया था।

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य के रूप में उन्होंने अनेक दुर्लभ-महान कार्य करके जैन समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। आज वर्तमान में हमें जितने भी मुनि-आचार्य आदि के दर्शन प्राप्त हो रहे हैं, ये सब उन चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की ही कृपा प्रसाद का फल है।

जिस प्रकार दस दिशाओं के होते हुए भी मात्र पूर्व दिशा ही सूर्य को जन्म देने में समर्थ है, उसी प्रकार धरती पर अनेकों माताओं के होने पर भी माता सत्यवती को ही उन महान आत्मा को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जिस प्रकार सूर्य आकाश में स्थित होकर भी सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर अपनी किरणों के द्वारा प्रकाश प्रदान करता है उसी प्रकार आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज ने दक्षिण भारत में जन्म लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपनी ज्ञानरश्मियों से आलोकित कर दिया था।

ऐसे उन आचार्यश्री के गुणों का वर्णन करने वाली यह पुस्तिका आपके हाथों में पहुँच रही है, आप सभी पाठकगण इस पुस्तक को पढ़कर गुरु के प्रति असीम श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित करें, यही मंगलकामना है।

प्रस्तावना

–आर्यिका चन्दनामती

देव, शास्त्र और गुरु ये तीन रत्न जैनशासन की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भगवान ऋषभदेव से महावीर तक चौबीसों तीर्थंकर के मध्य सात बार (भगवान पुष्पदंत से लेकर धर्मनाथ तक के तीर्थ में) धर्मतीर्थ का विच्छेद हुआ अर्थात् उस विच्छेदकाल में कोई भी मुनि बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष नहीं हुए। तात्पर्य यह है कि संसार में गृहस्थ परम्परा तो सदैव रहती है किन्तु यदि मुनिपरम्परा नहीं चलती है तो मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण धर्म का व्युच्छेद माना जाता है। इस पंचमकाल में यद्यपि साक्षात् तीर्थंकर भगवान नहीं हैं, फिर भी भगवान महावीर से लेकर आज तक मुनिपरम्परा सतत चलती रही है उसमें आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी को प्रमुखता से स्मरण करते हुए सभी लोग प्रतिदिन पढ़ते हैं–

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं।।

अर्थात् भगवान महावीर, गौतम गणधर, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य एवं जैनधर्म हम सबके लिए मंगलमयी होवें। इस मांगलिक भावना को आचार्यश्री उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक देव आदि ने तो साकार किया ही था पुनः बीसवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के भोजग्राम के निकट येळगुळ गाँव में जन्मे सातगौंडा श्रावक मुनि श्री शांतिसागर बनकर जिनधर्म सूर्य की किरणें पूरे देश में प्रसारित कर मंगल स्वरूप बन गये। उन्होंने दक्षिण से उत्तर भारत में विहार करके जैनसमाज पर जो उपकार किया है, वह पंचमकाल के अंत तक भुलाया नहीं जा सकता है।

यूँ तो प्रतिवर्ष भादों शु. 2 को आचार्यश्री की पुण्यतिथि के माध्यम से भारत का सम्पूर्ण जैनसमाज उनके प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करता है, फिर भी पूज्य आचार्यश्री के 131वें जन्मदिवस को संयमवर्ष के रूप में मनाने का उपक्रम (जुलाई 2003 से जुलाई 2004 तक) सराहनीय रहा। इस संयम वर्ष के अंतर्गत आषाढ़ कृ. षष्ठी को आचार्यश्री शांतिसागर परम्परा की सर्वोच्च साध्वी आर्यिका एवं गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने जहाँ "आचार्य शांतिसागर पूजन

विधान'' की नूतन रचना करके पूज्य ''गुरूणां गुरू'' के चरणों में 94 अर्घ्य समर्पित कर एक भक्ति पुष्प समाज को प्रदान किया है, वहीं आचार्यश्री के परिचय एवं उनके कतिपय संस्मरणों के संकलन को लिपिबद्ध करके प्रस्तुत पुस्तक भी आप सभी तक पहुँचा रही हैं।

भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) की पवित्र धरती पर बैठकर उसके विकास की प्रेरणा के साथ-साथ ज्ञानमती माताजी की लेखनी प्रायः सदैव चलती रहती है। षट्खण्डागम सूत्रग्रंथ की ''सिद्धान्त चिन्तामणि'' संस्कृत टीका लेखन में यद्यपि उनका उपयोग पूर्ण व्यस्त रहता है, फिर भी समय-समय पर अर्थात् अष्टमी-अमावस-पूर्णिमा आदि तिथियों में जब वे षट्खण्डागम टीका का लेखन नहीं करती हैं तो इस प्रकार के कुछ अतिरिक्त लेखन करके समाज की रुचि के अनुरूप नये-नये पूजा-विधान एवं स्वाध्याय के ग्रंथ भी प्रदान करती रहती हैं।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के जीवन परिचय की इस पुस्तिका को पढ़कर आप सभी जब गुरुभक्ति की अमूल्य शिक्षा ग्रहण करेंगे, तब लेखिका का श्रम तो सार्थक होगा ही, साथ में आपके जीवन में योग्यतानुसार देशसंयम तथा सकलसंयम धारण करने का बीज भी अवश्य अंकुरित होगा। अंत में गुरुजनों से मंगल की कामना करते हुए आप सबके लिए मेरी यही प्रेरणा है कि जन्म-जन्म में गुरुभक्ति का आश्रय लेते रहें, तभी एक दिन जन्म-मरण की परम्परा समाप्त होगी।

मंगलं प्रथमाचार्यः, गुरुःश्रीशांतिसागरः
श्रीवीरसिंधुसूरिश्च, गणिनीज्ञानमत्यपि।।1।।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य
चारित्र चक्रवर्ती १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज

स्वस्ति श्री मूलसंघ में कुंदकुंदाम्नाय, सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण में बीसवीं शताब्दी में प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य-चारित्र चक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज हुए हैं।

जन्म	– आषाढ़ बदी 6, सन् 1872
ग्राम	– ग्राम-भोजगाँव (जिला-बेलगाँव) कर्नाटक
नाम	– सातगौंडा पाटिल
माता-पिता	– माता-सत्यवती, पिता-भीमगौंडा पाटिल
क्षुल्लक दीक्षा	– ज्येष्ठ शु. 13, सन् 1914 ग्राम-उत्तूर (जि. कोल्हापुर) महाराष्ट्र
दीक्षा गुरु	– मुनि 108 श्री देवेन्द्रकीर्ति जी महाराज
ऐलक दीक्षा	– सन् 1917 गिरनार क्षेत्र, स्वयं भगवान के चरण सानिध्य में
मुनि दीक्षा	– फाल्गुन शु. 14, सन् 1920 ग्राम-येरनाल (जिला-बेलगांव) कर्नाटक
दीक्षा गुरु	– मुनि श्री 108 देवेन्द्रकीर्ति जी महाराज
आचार्य पद	– आश्विन शु. 11, सन् 1924 ग्राम-समडोली (जिला-सांगली-महाराष्ट्र) द्वारा-चतुर्विध संघ
चारित्र चक्रवर्ती पद	– सन् 1937 गजपंथा सिद्धक्षेत्र (महा.)
समाधिमरण	– द्वि. भाद्रपद शु. 2, सन् 1955, कुंथलगिरि (सिद्धक्षेत्र)

आचार्य देव ने अनेक दीक्षाएँ देकर चतुर्विध संघ सहित दक्षिण से उत्तर और पूर्व पश्चिम तक सारे भारत में मंगल विहार करके दिगम्बर जैन मुनि परंपरा को पुनरुज्जीवित किया। अनेक तीर्थों पर जिनप्रतिमाएँ स्थापित करायीं, षट्खण्डागम ग्रंथ को ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण कराकर जिनवाणी को स्थायित्व प्रदान किया। ऐसे बहुत से जिनधर्मप्रभावना के कार्यों से इस भूतल पर अपने यश को चिरस्थायी कर दिया।

आपने अंत में कुंथलगिरि क्षेत्र पर सल्लेखना लेकर अपने जीवनकाल में अपना आचार्यपद अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागर को प्रदान कर दिया था। पुनः उनकी परम्परा में द्वितीय पट्टाचार्य श्री शिवसागर मुनिराज हुए, तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्मसागर महाराज, चतुर्थ पट्टाचार्य श्री अजितसागर महाराज, पंचम पट्टाचार्य श्री श्रेयांससागर महाराज हुए हैं तथा वर्तमान में आचार्यश्री अभिनंदनसागर महाराज, षष्ठम पट्टाचार्य के रूप में चतुर्विध संघ का संचालन करते हुए जिनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

—प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान—टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि—आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991(सन् 1934)

गृहस्थ का नाम—कु. मैना

माता-पिता—श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत—ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से।

क्षुल्लिका दीक्षा—चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में।

आर्यिका दीक्षा—वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व—अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका। सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा—हस्तिनापुर में जंबूद्वीप तीर्थ का निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा—भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ(निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसीमंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव कीविशाल प्रतिमा इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा—पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा—'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा—जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

श्री शांतिसागर स्तुतिः

—उपजाति छन्द—

सुरत्नत्रयैः सद्व्रतैर्भ्राजमानः। चतुःसंघनाथो गणीन्द्रो मुनीन्द्रः।।
महा-मोह-मल्लैक-जेता यतीन्द्रः। स्तुवे तं सुचारित्रचक्रीशसूरिम्।।1।।

भवव्याधिनाशाय दिग्वस्त्रधारी। भवाब्धेः तितीर्षुः जगद्दुःखहारी।।
भवातंकविच्छित्तयेहं श्रितस्त्वां। स्तुवे शांतिसिंधुं महाचार्यवर्यं।।2।।

महाग्रंथराजं सुषट्खण्डशास्त्रं। सुताम्रस्य पत्रे समुत्कीर्णमेव।।
अहो! त्वत्प्रसादात् महाकार्यमेतत्। प्रजातं सुपूर्णं चिरस्थायि भूयात् ।।3।

जिनानां सुमूर्त्तीः प्रतिष्ठाप्य भक्त्या। त्वयानेकतीर्थं कृतं भारतेस्मिन्।।
अनेके सुशिष्याः प्रसिद्धास्तवेह। स्तुवे वीरसिंधुं महाचार्यवर्यं।।4।।

महासाधवोऽप्यार्यिकाः क्षुल्लकाद्याः। प्रसादात् हि ते श्रावकाद्याश्च जाताः।।
सुनक्षत्रवृंदैर्युतश्चंद्रमाः खे । सुसंघैर्युतः शांतिसूरिः स्तुवे त्वां।।5।।

महाकल्पवृक्षं महाचार्यरत्नं । कृपासागरं शांतिसज्ज्ञानमूर्तिम्।।
गभीरं प्रसन्नं महाधीरवीरं । महातीर्थभक्तं सदा त्वां प्रवन्दे।।6।।

—पृथ्वी छंद—

नमोऽस्तु मुनिचंद्र! ते भविककैरवाल्हादकृत् ।
नमोऽस्तु मुनिसूर्य! ते जनमनोऽन्धकारांतकृत्।।
नमोऽस्तु गुरुवर्य! ते सकलभव्य-चिंतामणे!
जयेति जय सूरिवर्य! भुवि शांतिसिंधो! सदा।।7।।

—अनुष्टुप् छन्द—

श्रीशांतिसागराचार्यं, वंदे भक्त्या पुनः पुनः।
बोधिर्ज्ञानमती सिद्धि-र्भूयात् मे पूर्ण-शांतिदा।।8।।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य
श्री शांतिसागर जी महाराज का जीवन परिचय

प्रस्तुति-गणिनीप्रमुख ज्ञानमती माताजी

जन्मकाल और बाल्यावस्था –

गौरवशाली प्रकाशपुंज आचार्य कुंदकुंद,स्वामी समंतभद्र, विद्यानंदी, जिनसेन इत्यादि आचार्यों की जन्मभूमि तथा उपदेश से पवित्र कर्नाटक प्रदेश में आचार्यश्री 108 शांतिसागर महाराज का जन्म हुआ।

बेलगांव जिले के चिकोड़ी तहसील में दूध-गंगा और वेद-गंगा के संगम के कारण तीर्थरूप ''भोज'' नामक ग्राम के पास ''येळगुळ'' गांव में ई. सन् 1872 में आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष में षष्ठी तिथि को आचार्यश्री का जन्म हुआ। जन्म नाम ''सातगौंडा'' था। पिताश्री का नाम भीमगौंडा था। वे पाटील घराने के थे। ''पाटील'' याने नगर के राजा। ऐसा ही समाज में उनका मानसम्मानपूर्ण स्थान था, ऊँची पूरी शक्तिशाली देह थी, पराक्रमशीलतापूर्ण नैसर्गिक वृत्ति थी, धीर-वीर-गंभीर सहज मनोवृत्ति थी। माता का नाम ''सत्यवती'' था। वह भी श्रद्धालु, धार्मिक और सदाचार सम्पन्न थीं। भगवान की भक्तिपूजा करना, त्यागीगणों को आहारदान देना, उनकी वैयावृत्य करना, दीन-दुखियों को सहायता पहुँचाना आदि कार्यों में उनकी विशेष रुचि थी। छोटे-बड़े व्यसनों से दूर पिताजी ने सोलह वर्ष तक दिन में एक ही बार भोजन करने का व्रत लिया था। आचार्यश्री का बाल-जीवन इस प्रकार से सदाचार सम्पन्न माता-पिता की छत्र-छाया में व्यतीत हुआ। एक प्रकार से निसर्ग योजना में यह मणिकांचन संयोग ही था।

सातगौंडा की लौकिक शिक्षा बहुत कम हुई। वे पाठशाला में तीसरी कक्षा तक पढ़ पाये। शिक्षा के आदान-प्रदान की व्यवस्था भी आज की अपेक्षा देहातों में अपेक्षाकृत कम थी। संस्कारशील माता-पिता के द्वारा घर में जो कुछ धार्मिक संस्कार हुए, केवल वे ही जीवनाधार बन गये। पाठशाला में भी सातगौंडा ने एक बुद्धिमान विद्यार्थी के रूप में ही प्रसिद्धि पाई थी।

जब सातगौंडा जी 9 साल के हुए, ज्येष्ठ भाई देवगौंडा और आदगौंडा का विवाह सम्पन्न हो रहा था। सातगौंडा का भी विवाह जबरदस्ती कर दिया गया। ''संसार विषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः''। संसार के विषयों में संसारी जीवों की निसर्ग से प्रवृत्ति होती ही है। बच्चों के खेल जैसी प्रक्रिया हो गई। दैव को वह भी स्वीकार नहीं था। विवाह के पश्चात् छः माह के भीतर ही विवाहिता की इहलोक यात्रा समाप्त हो गई। सातगौंडा बाल्यावस्था में विवाहबद्ध होकर भी निसर्ग से बालब्रह्मचारी रहे। ''लाभात् अलाभं बहुमन्यमानः।'' लाभ से अलाभ को लाभप्रद मानने की बालक सातगौंडा की निसर्ग प्रवृत्ति रही है। अनंतर किये गये आग्रह को उन्होंने स्वीकार नहीं किया अर्थात् पुनः विवाह नहीं किया।

अध्यात्म जीवन का नैसर्गिक आकर्षण –

आत्मानुशासन, समयसार इन दो ग्रंथों का वाचन सातगौंडा प्रारंभ से ही करते थे। विशेष रूप से तत्त्वचिंतन मनन में काल व्यतीत होता था। आयु के 17वें, 18वें वर्ष में भरी युवावस्था में ही मन में दिगम्बरी दीक्षा लेने के सहज भाव होने लगे परन्तु माता-पिता के दबाववश उस समय वे अपने विचारों को अमल में न ला सके, व्यक्त भी न कर सके। कुछ काल तक उन्हें घर में ही रहना पड़ा परन्तु प्रवृत्ति जल से भिन्न कमल की तरह बनी रही।

शास्त्र-स्वाध्याय की तरह तीर्थक्षेत्रों की भक्ति का भी आचार्यश्री के जीवन में विशेष स्थान रहा। मोक्षमार्ग के पथिक साधक के जीवन में तीर्थयात्रा-दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता ही है। असंगभाव या वीतराग भावों की धारा प्रवाहित करने के लिए दृष्टिसम्पन्न साधु यात्रा को अच्छा निमित्त बना सकता है। सातगौंडा यह कर पाये इसी में परिमार्जित तत्त्वदृष्टि स्पष्ट होती है। विहार का उनका प्रत्येक कदम वीतरागता के लिए था अर्थात् वीतरागता की ओर था।

सहज संवेगभाव और वैराग्य –

इसी अवस्था में पाँच-छः साल और बीत गये। सातगौंडा के मन में निर्ग्रंथ दीक्षा लेने के विचार तीव्रता से आने लगे। इस बार साहस के साथ माता-पिता

के समक्ष उन्होंने अपनी भावना व्यक्त भी की परन्तु पिता जी ने कहा, "हमारे ये अंतिम दिन हैं, दीक्षा लेकर हमारी मानसिक यातनाएँ बढ़ेंगी सो ठीक नहीं होगा, अच्छा नहीं होगा।" पिता की आज्ञा तथा पुत्र-कर्तव्य का विकल्प होने से सातगौंडा का दीक्षा लेने का विचार कुछ समय के लिए स्थगित हुआ।

ईसवी सन् 1912 में सातगौंडा की माताजी की इहलोक यात्रा समाप्त हुई। उसके कुछ साल पहले ही पिताजी का भी स्वर्गवास हुआ था। अब प्रकृतिसिद्ध त्यागमय जीवन और संयमशील बन गया। कोई लगाव भी न रहा। इसी काल में श्रवणबेलगोला-गोमटेश्वर इत्यादि पुण्यक्षेत्रों की दक्षिण यात्रा भी समाप्त कर सातगौंडा भोजग्राम में आये।

क्षुल्लक दीक्षा –

सातगौंडा ने जीवन के इकतालीस साल पूर्ण होने के उपरांत दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय कर्नाटक में दिगम्बर स्वामी श्री देवेंद्रकीर्ति विहार कर रहे थे। "कापशी" ग्राम के निकट "उत्तूर" नामक देहात है। वहाँ उनका आगमन होने पर सातगौंडा मुनिश्री के समीप पहुँचे और दिगम्बर दीक्षा देने की प्रार्थना की परन्तु श्री देवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने प्रारंभ में क्षुल्लक पद की ही दीक्षा लेने को कहा। ठीक ही है "क्रमारम्भो हि सिद्धिकृत्" गुरु आज्ञा को प्रमाण माना। ई. सन् 1914 में ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी तिथि को "सातगौंडा" ने क्षुल्लक दीक्षा धारण की। इस प्रकार स्वतंत्र संयमी जीवन का शुभारंभ हो गया।

ऐलक पद-दीक्षा और पद-विहार करने की प्रतिज्ञा –

श्री गिरनार क्षेत्र का दर्शन करते समय महाराजजी का हृदय उठी हुई वैराग्य भावनाओं से गद्गद हो उठा। भगवान नेमिनाथ के चरणों के पुनः-पुनः दर्शन कर क्षुल्लकजी के वीतराग भावों में सहज वृद्धि हुई। सावधानी तो पूरी थी ही। उसी समय श्री नेमिनाथ भगवान के चरण साक्षी में स्वयं ऐलक पद को स्वीकार किया। एक कौपीन मात्र परिग्रह के बिना सब वस्त्रादि परिग्रहों को त्याग दिया। नूतन प्रतिमा की प्रतिष्ठा पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमा की साक्षी में होती है और नया व्रत विधान पूर्व में व्रती के साक्षी से ही होना चाहिए, ऐसी एक अच्छी प्राचीन परम्परा है। महाराजजी इस परम्परा को तोड़ना नहीं चाहते थे जैसा कि निर्ग्रन्थ दीक्षा के समय देखा गया। इस समय उनसे रहा नहीं गया। वैराग्य भावों की वेगवान गति को वे रोक नहीं सके। पूज्य स्वर्गीय अनुभवसमृद्ध वीरसागर जी महाराज ठीक कहते थे। "गुरु कहे सो करना गुरु करे सो नहीं करना।" अस्तु!

इस समय वीतरागता का वैराग्यभाव से अपूर्व मिलन होना था, हो गया। श्री गिरनारजी से लौटते समय ऐलकजी ने श्री दक्षिण कुंडलक्षेत्र की वंदना की। श्री पार्श्वप्रभु भगवान की मूर्ति की साक्षी में ऐलकजी महाराज ने सब वाहनों का आजीवन के लिए परित्याग कर दिया। आगे के लिए विहार का रूप "पद-विहार" ही निश्चित हुआ। "याजं याजमटन्नवे तीर्थ-स्थानान्यपूजयत्।" शुद्ध निर्जंतुक रास्ते से चार हाथ आगे की जमीन को देखकर विहार करते हुए सूर्यप्रकाश में चलने की मुनि की प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं। गाड़ी, मोटर या रेल सवारी का त्याग त्यागी को इसीलिए होता है। श्री क्षेत्र कुण्डल से विहार करते-करते महाराज जिनमंदिर का दर्शन करते -करते नसलापुर, ऐनापुर, अथणी इस मार्ग से बीजापुर के पास अतिशय क्षेत्र "बाबानगर" को आये। पुण्यक्षेत्र के सहस्रफणी श्री पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन करते हुए लौटकर पुनः ऐनापुर आये। वहाँ वे 15 दिन तक ठहरे। यहाँ योगायोग से निर्ग्रंथ मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज का सत्समागम मिला।

भगवती निर्वाणरूपा जिनदीक्षा –

निपाणी संकेश्वर के समीप "यरनाळ" ग्राम में पंचकल्याणक महोत्सव के लिए मुनिराज श्री देवेन्द्रकीर्तिजी पधारे थे। ऐलक सातगौंडा महाराज भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने गुरु श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामी को दिगम्बर दीक्षा देने के लिए पुनः प्रार्थना की। एकत्रित जैन समाज को महाराजजी की योग्यता का पूरा परिचय था। वे महाराजजी से प्रभावित भी थे। मुनि दीक्षा के लिए समाज भर ने एक स्वर से अनुमोदना की।

निर्ग्रंथ दीक्षा लेने का विचार निश्चित हुआ। दीक्षा कल्याणक के दिन तीर्थंकर भगवान् का वन विहार का जुलूस दीक्षा वन में आया। इसी पवित्र समय में ऐलकजी ने भी दीक्षागुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति महाराज के पास दिगम्बरी जिनदीक्षा धारण की। 'नैर्ग्रंथ्य हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम्।' यह दृढ़धारणा थी। भगवान् की दीक्षा विधि के साथ ऐलक महाराजजी की भी निर्ग्रंथ दीक्षा विधि सम्पन्न हुई, केशलोंच समारम्भ भी हुआ। ऐलक सातगौंडा मुनि हो गये, यथाजातरूपधारी हुए। मुनि पद का नाम श्री "शांतिसागर" रखा गया। ईसवी सन् 1920 में फाल्गुन शुक्ला 14 उनकी दीक्षातिथि थी। इस पवित्र दिन से महाराज श्री का जीवनरथ अब संयम के राजमार्ग द्वारा मोक्षमहल की ओर अपनी विशिष्ट गति से सदा गतिशील ही रहा। अंतरंग में परिग्रहों से अलिप्तता

का भाव सदा के लिए बना रहना और बाह्य में परिग्रह मात्र से स्वयं को दूर रखना यह मुनि की अलौकिक चर्या है। शुद्ध आत्मस्वरूप मग्नता यह उसका अन्तःस्वरूप होता है। देह के प्रति भी ममत्व का लेश नहीं होता, वे विदेही भावों के राजा होते हैं इसीलिए लोग उन्हें महाराज कहते हैं।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों के विषयों पर विजय, छह आवश्यक तथा सात शेष गुण इत्यादि 28 मूलगुणों के ये धारक होते हैं।

भारत-विहार –

यरनाळ में दीक्षा समारंभ समाप्त होने के अनंतर महाराज ने अनेक नगरों में विहार करके धर्मप्रभावना की। महाराज जी के विहार काल में कोण्णूर का चातुर्मास बड़ा महत्वपूर्ण रहा। यहाँ महाराज की जीवनी में अतिशय महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। कोण्णूर ग्राम में प्राचीन गुफाएं बहुसंख्या में हैं। नित्य की तरह गुफा में आचार्य श्री ध्यानस्थ बैठ गये। उसी समय एक नागराज–बड़ा सर्प वहाँ आकर महाराज जी के शरीर पर चढ़कर घूमने लगा। महाराज जी अपने आत्मध्यान में निमग्न थे। 'नागराज आया है और वह अपने शरीर पर घूम रहा है' इसका तनिक विकल्प भी महाराज जी को नहीं था। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की पालना किस प्रकार हो सकती है, इसका यह मूर्तिमान रूप दृष्टिगोचर हुआ। महाराज जी के दर्शनार्थ जो लोग वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखी। वे साश्चर्य दिङ्मूढ़ हो बैठे रहे। वे सांप से डरते थे। सांप भी जनता से घबड़ाता था। महाराज का आश्रय इसीलिए उसने लिया था। महाराज जी का दिव्य आत्मबल देखकर वहाँ आये हुए यात्रियों में से प्रमुख श्रेष्ठी श्रीमान सेठ खुशालचंद जी पहाड़े और ब्र. हीरालाल जी बड़े प्रभावित हुए। दोनों सज्जन विचक्षण थे। दक्षिण यात्रा के लिए निकले हुए यात्री थे। मिरज पहुँचने के बाद पता चला कि निकट ही दिगम्बर साधु हैं। इसलिए परीक्षा के हेतु वे वहाँ पर पहुँचे थे। उनकी अपनी धारणा थी कि इस काल में साधक का होना असंभव है। भरी सभा में 'क्या आपको अवधिज्ञान है? या आपको ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त है?'' आदि वैयक्तिक आचार विषयक प्रश्न भी पूछने लगे। कुछ उलाहना का अंश भी जरूर था। सम्मिलित भक्तगणों में कुछ ऐसे जरूर थे, जो इन सवालों का जवाब मुट्ठियों से देने के लिए तैयार हो गये। मुनि महाराज ने भक्तों को रोका। एक-एक सवाल का जवाब यथानाम ''शांतिसागर जी'' ने शांति से ही दिया। समागत दोनों परीक्षक अत्यधिक प्रभावित हुए, उसी

समय दीक्षा के लिए तैयार भी हो गये। महाराज जी ने ही उन्हें रोककर यात्रा पूरी करने का और कुटुम्ब परिवार की सम्मति लेने को कहा। जब महाराज बाहुबली (कुम्भोज) आये, तब वहाँ आकर उक्त दोनों सज्जनों ने महाराज जी के पास क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद श्री सेठ खुशालचंद जी क्षुल्लक 'चन्द्रसागर' तथा श्री ब्र. हीरालाल जी का क्षुल्लक ''वीरसागर'' नामांकन हुआ। समडोली के चातुर्मास में आचार्यश्री के पास क्षुल्लक वीरसागर जी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। यही महाराज के प्रथम निर्ग्रंथ शिष्य थे। आचार्यश्री ने आगे चलकर अपने समाधिकाल में श्री वीरसागर महाराज को ही उन्मुक्त भावों से आचार्यपद प्रदान किया। श्री वीरसागर जी की दीक्षा विधि हुई। कुछ ही समय बाद ऐलक नेमण्णा ने भी मुनिदीक्षा धारण की। नाम श्री 'नेमिसागर' रखा गया।

आचार्यपद की प्राप्ति व महत्वपूर्ण तीर्थरक्षा कार्य –

समडोली ग्राम में ही सर्वप्रथम आचार्यश्री का चतुःसंघ स्थापन हुआ। अब तक केवल अकेले महाराज ही निर्ग्रंथ साधु स्वरूप में विहार करते थे। अब संघ सहित विहार होने लगा। संघ ने उनको 'आचार्य' घोषित किया। आचार्य महाराज का संघ पर वीतराग शासन बराबर चलता था। संघ सहित विहार करते-करते महाराज कुम्भोज से श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी आये। क्षेत्र पर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिद्वय की चरण पादुकाओं का पावन दर्शन किया। विहारकाल का उपयोग महाराज श्री जाप्य तथा मंत्र स्मरण के लिए विशेष रूप से कर लेते थे।

श्री सम्मेदशिखर जी की ऐतिहासिक पावन यात्रा –

(चलता फिरता वीतरागता और विज्ञानता का विश्वविद्यालय)

ई. सन् 1927 के मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा के दिन श्री सम्मेदशिखर जी क्षेत्र की वंदना और धर्मप्रभावना के उद्देश्य से आचार्यश्री 108 शांतिसागर जी महाराज की विहार यात्रा संघ सहित बाहुबली (कुम्भोज) क्षेत्र से शुरू हुई।

बम्बई निवासी पुरुषोत्तम श्रीमान सेठ पूनमचंद जी घासीलाल जी और उनके सुपुत्रगण आचार्यश्री के पास पहुँचे। उन्होंने आचार्यश्री को ससंघ श्री सम्मेदाचल यात्रा को ले चलने का संकल्प प्रकट किया।

नागपुर में संघ का अपूर्व स्वागत हुआ। जुलूस तीन मील लम्बा निकला था। शहर के बाहर इतवारी में स्वतंत्र 'शांतिनगर' की रचना की गयी थी। कांग्रेस के पंडाल से शांतिनगर का पंडाल कुछ छोटा नहीं था। जनता आज भी

उस समय की अपूर्व घटनाओं की स्मृति से आनंद का अनुभव करती है और स्वयं को धन्य मानती है।

संघ की विदाई हृदयद्रावक थी। साश्रुनयनों से श्रावक-श्राविकाओं को अनिवार्यरूप से विदाई देनी पड़ी। दिनाँक 9 जनवरी 1928 को संघ का नागपुर छोड़कर भंडारा मार्ग से विहार शुरू हुआ। छत्तीसगढ़ के भयंकर जंगलमय विकट मार्ग से निर्बाध होते हुए संघ हजारीबाग आया। बाद में फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र को पहुँचा।

यहाँ पर श्री संघपति जी के द्वारा व्यापकरूप में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा महती धर्मप्रभावना हुई। भीड़ की सीमा न थी। भारत के कोने-कोने से श्रावक-श्राविकाएँ अत्यधिक प्रमाण में पहुँचे। इसी समय हजार से ज्यादा कपड़ों की झोपड़ियाँ बनवायी गई थीं। धर्मशालाएँ खचाखच भर गईं।

तीर्थक्षेत्र कमेटी तथा महासभा आदि कई सभाओं के अधिवेशन भी हुए। तीर्थराज जयध्वनि से गूँज उठा था। धर्मशालाओं के बाहर भी यत्र-तत्र लोग अपना स्वतंत्र स्थान जमाए हुए नजर आते थे। नीचे धरती ऊपर आसमान, पूर्ण निर्विकल्प होकर जनता प्रतिष्ठा यात्रा के उन्मुक्त आनन्द रस का पान करती थी। लोग कहते हैं यात्री कहीं तीन लाख से ऊपर होंगे। अस्तु! पंडित आशाधरजी के शब्दों में कहना होगा, 'दलित कलिलीला-विलसितम्' यही पर्वतराज का सजीव मनोहारी दृश्य था। अनेक भाषा, अनेक वेशभूषा में व्यापक तत्त्व की एकता का होने वाला प्रत्यक्ष दर्शन अलौकिक ही था। निर्विकल्प वस्तु के अनुभव के समय विशेष का तिरोभाव और सामान्य का आविर्भाव होता ही है ठीक इसी तरह सांस्कृतिक एकता का यह सजीव स्वरूप प्रभावशाली बन गया।

श्री सम्मेदशिखर की वंदना करके वहां से मंदारगिरी, चम्पापुरी, पावापुरी, कुण्डलपुर, राजगृही, गुणावां आदि अनेक पवित्र तीर्थ क्षेत्रों की संघ ने यात्रा की।

स्वर्गीय 108 पायसागर जी महाराज आचार्य श्री को पारसमणि की उपमा देते थे। अपनी जीवनी के आधार से ही समादर की भावनाओं से वे अपने प्रवचनों में आचार्यश्री के विषय में गौरवगाथा गाते थे। स्व. आचार्यश्री कुंथुसागर महाराज जी आचार्यश्री के शिष्यों में से उद्‌भट संस्कृतज्ञ प्रवक्ता रहे, जिनके द्वारा गुजरात में विशेष प्रभावना हुई। आचार्यश्री वीरसागर जी और शिष्य परम्परा से जो जागरण का कार्य हुआ, वह अविस्मरणीय एवं सातिशय ही है।

आक्रमण से संघ ऐसे बच पाया –

दिनाँक 6 जनवरी 1930 में संघ धौलपुर स्टेट के राजाखेड़ा शहर में पहुँचा। तीन-चार दिन तक महती धर्मप्रभावना हुई। यह धर्मप्रभावना भी एक अजैन भाई को सहन नहीं हुई। एक संगठन बन गया। लाठी, काठी, तलवार आदि शस्त्रास्त्रों के साथ करीब 500 लोगों के आक्रमण की गुप्त योजना भी बन गई।

मृगमीनसज्जनानां, तृणजल-संतोष-विहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धक-धीवर-पिशुनः, निष्कारण वैरिणो जगति।।

घासपत्ती पर अपना गुजारा करने वाले हिरन, जल में अपना निर्वाह करने वाली मछलियाँ और सन्तोषामृत का पान करने वाले साधु पुरुषों से भी शिकारी, मछलीमार और दुर्जन व्यर्थ ही शत्रुता करते हैं। यह सनातन दुष्टता की परंपरा संसार में चली ही आ रही है। इसका प्रत्युत्तर राजाखेड़ा में आया। छिद्दीलाल ब्राह्मण के नेतृत्व में आक्रमण की तैयारी हो गई थी। संघ का हत्याकाण्ड होने को ही था कि महाराज की अंतरंग स्वच्छता से अंतर्ज्ञान द्वारा जो कुछ भी संकेत मिला हो, उन्होंने संघस्थ त्यागियों से प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र आहार करके लौटने को कहा। तदनुसार समस्त त्यागी चर्या करके 9 बजे के भीतर ही मंदिर जी में वापिस लौट आये। आक्रामक लोग नारे लगाते हुए मंदिर जी की ओर बढ़े। जैनियों ने इस प्राणांतिक आक्रमण का प्रतिकार भी किया। स्टेट की ओर से पुलिस सहायता भी दौड़ी हुई आयी। पुलिस दल ने आक्रामकों को गिरफ्तार कर लिया लेकिन महाराज जी ने करुणाभाव प्रदर्शित कर उनको छोड़ देने के लिए पुलिस अधिकारी मंडल को बाध्य किया।

जातिलिंगविकल्पेन, येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवंति, परमं पदमात्मनः।।

अर्थात् जाति और वेष-परिवेष का विकल्प साधना में पूरा बाधक एवं हेय होता है। इसी प्रकार तेरहपंथ या बीसपंथ के विकल्पों से आत्म साधना अर्थात् परमार्थ-भूत धर्मसाधना अत्यन्त दूर होती है। धर्मदृष्टि के अभाव का ही परिणाम है। टंकोत्कीर्ण धर्म साधन लुप्त प्रायः होती जा रही है और तेरह-बीस पंथ के झगड़े दृढ़मूल बनाए जा रहे हैं और उन्हें धर्माचार का रूप दिया जा रहा है। समाज में आज भी जो भाई तेरह और बीस पंथ के नाम से समय-समय पर वितंडा उपस्थित करते हैं और समाज के स्वास्थ्य को ठेस पहुँचाते हैं, उनकी उस प्रवृत्ति को जो समाज के लिए महारोग के समान है, हम समझते हैं आचार्यश्री

का सामंजस्यपूर्ण दूरदृष्टिता का व्यवहार एक अद्‌भुत कल्याणकारी अमृतोपम रसायन हो सकता है।

शास्त्रशुद्ध व्यापक दृष्टिकोण –

ईसवी सन् 1933 का चातुर्मास आचार्य संघ का ब्यावर (राज.) में था।

महाराज जी का अपना दृष्टिकोण हर समस्या को सुलझाने के लिए मूल में व्यापक ही रहता था। योगायोग की घटना है इसी चौमासे में कारंजा गुरुकुल आदि संस्थाओं के संस्थापक और अधिकारी पूज्य ब्र. देवचंद जी दर्शनार्थ ब्यावर पहुँचे। पूज्य आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा के लिए पुनः प्रेरणा की। ब्रह्मचारी जी का स्वयं विकल्प था ही। वे तो इसीलिए ब्यावर पहुँचे थे। साथ में और एक प्रशस्त विकल्प था कि ''यदि संस्था-संचालन होते हुए क्षुल्लक प्रतिमा का दान आचार्यश्री देने को तैयार हों, तो हमारी लेने की तैयारी है।'' इस प्रकार अपना हार्दिक आशय ब्रह्मचारी जी ने प्रगट किया। 5-6 दिन तक उपस्थित पंडितों में काफी बहस हुई। पंडितों का कहना था कि क्षुल्लक प्रतिमा के व्रतधारी संस्था संचालन नहीं कर सकते जबकि आचार्यश्री का कहना था कि पूर्व में मुनि संघ में ऐसे मुनि भी रहा करते थे जो जिम्मेवारी के साथ छात्रों का प्रबंध करते थे और ज्ञानदानादि देते थे। यह तो क्षुल्लक प्रतिमा के व्रत श्रावक के व्रत हैं। अंत में आचार्य महाराजजी ने शास्त्रों के आधार से अपना निर्णय सिद्ध किया। फलतः ब्र. श्री देवचंद जी ने क्षुल्लक पद के व्रतों को पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। आचार्य श्री ने स्वयं अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करते हुए दीक्षा के समय ''समंतभद्र'' इस भव्य नाम से क्षुल्लकजी को नामांकित किया और **पूर्व के समंतभद्र आचार्य की तरह आपके द्वारा धर्म की व्यापक प्रभावना हो,** इस प्रकार के शुभाशीर्वादों की वर्षा की। कहाँ तो बाल की खाल निकालकर छोटी-छोटी सी बातों को जटिल समस्या बनाने की प्रवृत्ति और कहाँ आचार्यश्री की प्रहरी के समान सजग दिव्य दूर-दृष्टिता?

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री –

संघ विहार करता हुआ गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर आया। यहाँ पर सम्मिलित सब जैन समाज ने आचार्यश्री को ''चारित्र-चक्रवर्ती'' पद से विभूषित किया। महाराजश्री की आत्मा निरंतर निरूपाधिक आत्मस्वरूप के अमृतोपम महास्वाद को सहज प्रवृत्ति से बराबर लेने में परमानंद का अनुभवन करती थी। उन्हें इस उपाधि से क्या? वे पूर्ववत् उपाधि-शून्य स्वभावमग्न ही थे। साधु परमेष्ठी या आचार्य परमेष्ठी के आंतरिक जीवन का यथार्थ दर्शन यह चक्षु का विषय नहीं

होता। वह अपनी शान का अलौकिक ही होता है। जहाँ जीवनाधार श्वासोच्छ्‌वास की तरह इन परमेष्ठियों का श्वांस आत्मा को स्वात्मा में स्थिर बनाये रखने के लिए होता है, वहाँ उच्छ्‌वास विश्व में अपनी आदर्श प्रवृत्ति के द्वारा शांति स्थापना में और धर्मप्रभावना में उत्कृष्ट निमित्त के रूप में उपस्थित होने के लिए होता है। आचार्यश्री की लोकोत्तम, लोकोत्तर अलौकिकता और वैभवशाली विभूतिमत्ता इसी में थी। ''चारित्र-चक्रवर्ती'' उपाधि का महाराज को तो कोई हर्ष-विषाद ही नहीं था। ''चारित्र के चक्रवर्ती तो भगवान् ही हो सकते हैं। हम तो लास्ट नम्बर के मुनि हैं। हमें उपाधि से क्या? स्वभाव से निरूपाधिक आत्मा ही हमारी शरण है।'' समाज ने उनकी गुणग्राहकता और त्याग-संयम के प्रति निष्ठा का जो औचित्यपूर्ण दर्शन किया, वह योग्य ही हुआ।

एक प्रशस्त विकल्प –

वर्षों से एक प्रशस्त संकल्प चित्त में था। जैसे माँ के पेट में बच्चा हो, वह करुणा कोमल चित्त की उद्‌भट चेतना थी। महाराष्ट्र की जैन जनता प्रायः किस्तकार (किसान) है। धर्म-विषयक अज्ञान की भी उनमें बहुलता है। आचार्यश्री का समाज के मानस का गहरा अध्ययन तो अनुभूति पर आधारित था ही। 'शास्त्रज्ञान' और 'तत्त्वविचार' की ओर इनका मुड़ना बहुत ही कठिन है। प्रथमानुयोगी जनमानस के लिए एक भगवान का दर्शन ही अच्छा निमित्त हो सकता है। इसी उद्देश्य को लेकर किसी अच्छे स्थान पर विशालकाय श्री बाहुबली भगवान की विशालमूर्ति कम से कम 25 फीट की खड़ी कराने का प्रशस्त विकल्प जहाँ कहीं भी आचार्यश्री पहुँचते थे, प्रकट करते थे परन्तु सिलसिला बैठा नहीं। 'भावावश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते'। होनहार होकर ही रहती है। योगायोग से इसी समय अतिशयक्षेत्र बाहुबली (कुंभोज) में वार्षिकोत्सव होने वाला था। 'संभव है सत्य संकल्प की पूर्ति हो जाये' इसी सदाशय से आचार्यश्री के चरण बाहुबली की ओर यकायक बढ़े। 18 मील का विहार वृद्धावस्था में पूरा करते हुए नांद्रे से महाराज श्री क्षेत्र पर संध्या में पहुँचे। पवित्र आनन्दोल्लास का वातावरण पैदा हुआ। संस्था के मंत्री श्री सेठ बालचंद देवचंद जी और मुनि श्री समंतभद्र जी से संबोधन करते हुए भरी सभा में आचार्यश्री का निम्न प्रकार समयोचित और समुचित वक्तव्य हुआ। जो आचार्यश्री की पारगामी दृष्टि-सम्पन्नता का पूरा सूचक था।

'तुमची इच्छा येथे हजारो विद्यार्थ्यांनी राहावे शिकावे अशी पवित्र आहे हे

मी ओळखतो, हा कल्पवृक्ष उभा करून जाते। भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील। मिळेल तितका मोठा पाषाण मिळवा व लवकर हे पूर्ण करा।मुनिश्री समंतभद्राकडे वळून म्हणाले, 'तुझी प्रकृति ओळखतो, हे तीर्थक्षेत्र आहे। मुनींनी विहार करावयास पाहिजे असा सर्वसामान्य नियम असला तरी विहार करूनही जे करावयाचे ते येथेच एके ठिकाणी राहून करणे। क्षेत्र आहे। एके ठिकाणी राहाण्यास काहीच हरकत नाही, विकल्प करू नको,काम लवकर पूर्ण करून घे। काम पूर्ण होईल! निश्चित होईल!! हा तुम्हा सर्वांना आशीर्वाद आहे।'

आपकी आंतरिक पवित्र इच्छा है कि यहाँ पर हजारों विद्यार्थी धर्माध्ययन करते रहें इसका मुझे परिचय है। यह कल्पवृक्ष खड़ा करके जा रहा हूँ। भगवान का दिव्य अधिष्ठान सब काम पूरा कराने में समर्थ है। यथासंभव बड़े पाषाण को प्राप्त कर इस कार्य को पूरा कर लीजिये।'' मुनि श्री समंतभद्र जी की ओर दृष्टि कर संकेत किया-''आपकी प्रकृति (स्वभाव) को बराबर जानता हूँ। यह तीर्थभूमि है। मुनियों को विहार करते रहना चाहिए, इस प्रकार सर्वसामान्य नियम है। फिर भी विहार करते हुए जिस प्रयोजन की पूर्ति करनी है, उसे एक स्थान में यहीं पर रहकर कर लो। यह तीर्थक्षेत्र है एक जगह पर रहने के लिए कोई बाधा नहीं है। विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार से कार्य शीघ्र पूरा हो सके पूरा प्रयत्न करना। कार्य अवश्य ही पूरा होगा। सुनिश्चित पूरा होगा। आप सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।''

पूर्णिमा का शुभ मंगल दिन था। शुभ संकेत के रूप में पच्चीस हजार रुपयों की स्वीकृति भी तत्काल हुई। काम लाखों का था। यथाकाल सब कामपूर्ण हुआ। ''पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः।'' पानी से कमल, कमल से पानी और दोनों से सरोवर की शोभा बढ़ती है। ठीक इस कहावत के अनुसार भगवान् की मूर्ति से संस्था का अध्यात्म वैभव बढ़ा ही है। अतिशय क्षेत्र की अतिशयता में अच्छी वृद्धि ही हुई। अब तो मूर्ति के प्रांगण में और सिद्धक्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ बनने से यथार्थ में अतिशयता या विशेषता आयी है। महाराज का आशीर्वाद ऐसे फलित हुआ।

टंकोत्कीर्ण श्रुत की टंकोत्कीर्ण सुरक्षा –

वि. सं. 2000 (ई. सन् 1944) की घटना है। आचार्यश्री का चौमासा कुंथलगिरि में था। पं. श्री सुमेरचंद जी दिवाकर से धर्म चर्चा के समय यह पता चला कि अतिशयक्षेत्र मूड़बिद्री में विद्यमान धवला, जयधवला और महाबंध इन

सिद्धान्त ग्रंथों में से महाबंध ग्रंथ की ताड़पत्री प्रति के करीब 5000 सूत्रों का भागांश कीटकों का भक्ष्य बनने से नष्टप्राय हुआ। भगवान महावीर के उपदेशों से साक्षात् संबंधित इस जिनवाणी का केवल उपेक्षामात्र से हुआ विनाश सुनकर आचार्यश्री को अत्यन्त खेद हुआ। आगम का विनाश यह अपूरणीय क्षति है। इनकी भविष्य के लिए सुरक्षा हो तो कैसी हो? इस विषय में पर्याप्त विचार परामर्श हुआ। अंत में निर्णय यह हुआ कि इन ग्रंथराजों के ताम्रपत्र किये जायें और कुछ प्रतियाँ मुद्रित भी हों।

प्रातःकाल की शास्त्र सभा में आचार्यश्री का वक्तव्य हुआ। संघपति श्रीमान् सेठ दाडिमचंद जी, श्रीमान सेठ चंदूलाल जी बारामती, श्रीमान सेठ रामचन्द जी धनजी दावडा आदि सज्जन उपस्थित थे। संघपति जी का कहना था कि जो भी खर्चा हो, वे स्वयं करने के लिए तैयार हैं। फिर भी आचार्यश्री के संकेतानुसार दान संकलित हुआ, जो करीब डेढ़ लाख हुआ।

''श्री 108 चारित्रचक्रवर्ती शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था'' नामक संस्था का जन्म हुआ। ग्रंथों के मूल ताड़पत्री प्रतियों के फोटोलेने का और देवनागरी प्रति से ताम्रपट्ट कराने का निर्णय हुआ। नियमावली बन गई। कार्य की पूर्ति के लिए ध्रुवनिधि की वृद्धि करने का भी निर्णय हुआ। कार्य की पूर्ति शीघ्र उचित रूप से किस प्रकार हो, इस विषय में पत्र द्वारा मुनि श्री समंतभद्र जी से परामर्श किया गया। ''आर्थिक व्यवहार चाहे जिस प्रकार हो, यदि कार्य पूरा करना है तो कार्यनिर्वाह की जिम्मेदारी किसी एक जिम्मेदार व्यक्ति के सुपुर्द करनी होगी। हमारी राय में श्रीमान बालचंद जी देवचंद जी शाह बी.ए.को यह कार्य सौंपा जाये'' इस सलाह के अनुसार कार्य की व्यवस्था बन गई। आचार्यश्री के संकेत को आज्ञा के रूप में श्री सेठ बालचंद जी ने शिरोधार्य कर कार्य संभाला। प्रतियों के मुद्रण तथा ताम्रपत्र के रूप में टंकोत्कीर्ण कराने का कार्य श्रीमान् विद्यावारिधि पं. खूबचंद जी शास्त्री, श्रीमान् पं. पन्नालाल जी सोनी, श्रीमान् पं. सुमेरचंद जी दिवाकर, श्रीमान् पं.हीरालाल जी शास्त्री, श्रीमान् पं. माणिकचंद जी भीसीकरआदि विद्वानों के यथासंभव सहयोग से पूरा हो पाया; जिसमें 9 वर्षों का समय लगा।

कुंथलगिरी क्षेत्र पर बृहज्जिनबिम्ब का विकल्प –

कुंथलगिरी दक्षिण का सीमावर्ती सुन्दर सिद्धक्षेत्र है। ''यहाँ पर एक विशालकाय बाहुबली भगवान की मूर्ति हो तो अच्छा होगा।'' यह भव्य आशय कमेटी के सभी सदस्यों को एकदम पसंद आया। पूज्य आचार्यश्री के समक्ष कार्य

पूरा होना असंभव था। महाराज जी ने यम सल्लेखना का नियम कर ही लिया था। इसी अवसर पर एक समाचार विदित हुआ कि दक्षिण में म्हैसूर स्टेट के अंतर्गत "बस्ती हल्ली" देहात में एक 15 फुट ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है और वह एक अजैन भाई के खेत में करीब अज्ञात अवस्था में पड़ी हुई है, उसी को लाकर खड़ा करने का विचार किया गया। स्व. श्रीमान् सेठ राव जी देवचंद शहा आदि सज्जन स्वयं वहाँ पहुँचे। काफी प्रयास किया गया परन्तु सफलता नहीं मिल पायी। केवल फोटो मात्र मिल पाया। उसे ही सिर पर रखकर आचार्यश्री ने धन्यता के भाव प्रगट किये। वीतरागता की साधना में परम वीतराग मूर्ति के दर्शन से अद्‌भुत आनन्द की और धर्मोल्लास की लहर होना सहज था। आचार्यश्री की चर्या पर वह दृष्टिगोचर हुई। आचार्य महाराज के भव्य भावों की पूर्ति होनी ही चाहिए, इस प्रकार का भव्य भाव समीपवर्ती सेवाभावी सरल प्रकृति श्रेष्ठीवर्य श्रीमान् नेमचन्द जी मियाचंद जी गांधी, नातेपुते के चित्त में आया। "यदि महाराज जी की आज्ञा हो, तो इसी क्षेत्र के ऊपर 18-20 फुट ऊँची बाहुबली भगवान् की मूर्ति विराजमान करने का मेरा भाव है" इसके पश्चात् सन् 1970 में 18 फीट ऊँची बाहुबली भगवान् की मूर्ति पहाड़ीके ऊपर पूर्वाभिमुख विराजमान होकर प्रतिष्ठा भी सम्पन्न हो गई। इस प्रकार एक तरह से महाराज के सम्पूर्ण काम सिद्ध हुए।

हीरक जयंती महोत्सव –

जैनियों की दक्षिणकाशी फलटण नगरी धर्मकार्यों को उत्साह तथा उल्लास के साथ करती ही आ रही है। सन् 1952 की घटना है। पूज्य श्री की जीवनी के 80 वर्ष पूरे हुए। इस प्रसंग से हीरक जयंती महोत्सव सम्पन्न करने का निर्णय एक स्वर से किया गया। आचार्यश्री को उत्सवों से कोई हर्ष-विषाद नहीं था। एक तरह से त्याग तपस्या का ही यह गौरव था। जून की दिनाँक 12, 13, 14 ये तीन दिन विशेष आनन्दोत्सव के रहे। सर्वत्र चहल-पहल रही। भारत के कोने-कोने से हजारों भाई फलटण पहुँचे। इंदौर से सर सेठ राजकुमार सिंह जी, सरसेठ हीरालाल जी पहुँचे। बम्बई से सेठ रतनचंद जी, सेठ लालचंद जी, अजमेर से सेठ भागचंद जी, कलकत्ता, देहली, कोल्हापुर, नांदगांव, नागपुर, सिवनी, जबलपुर, बेलगांव, बाहुबली, सांगली, शेडवाल, भोज आदि शहरों से सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए, सभा सम्मेलन हुए। योजनाबद्ध रूप से विनयांजलियों का समर्पण हुआ, पूजा प्रभावना हुई। ताम्रपत्रों के ऊपर उत्कीर्ण धवलादि ग्रंथों का हाथियों के ऊपर जुलूस निकालकर वे ग्रंथ भक्ति-भावपूर्वक

पूज्य आचार्यश्री को समारोह के साथ समर्पण किये गये। छोटे-मोटे सभी कार्यों में विशेष सातिशय सजीवता दिखलायी देती थी। स्वयं फलटण स्टेट के अधिपति श्रीमान् मालोजीवराव निंबालकर फलटण नगरी का यह अहोभाग्य समझते रहे। हीरक जयंती महोत्सव के निमित्त से एक सचित्र स्मरणिका प्रकाशित हुई, जिससे उत्सव का सचेतन स्वरूप सुस्पष्ट होता है। इस समय महाराजश्री के अनुभव रसपूर्ण हुए। 'रत्नत्रयधर्म की साधना जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। धर्म से ही शेष पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं सफलता होती है' ऐसे ही भावपूर्ण वक्तव्य हुए। आचार्यश्री जीवन के क्षणों का मूल्य बराबर जानते थे। उपचार और परमार्थ दोनों का परिज्ञान उन्हें बराबर था। सदा की भांति वे अपनी आत्म साधना में विशेष तन्मय हुए। रत्नत्रयों के श्रेष्ठ आराधक रत्नत्रयों के अकम्प प्रकाश में अविचलरूप से सुस्थित थे। निर्ग्रन्थ साधु की विशेषता के पुण्यदर्शन बराबर होते थे। आचार्य महाराज खूब जानते थे।

तिथिपर्वोत्सवा सर्वे, व्यक्ता येन महात्मना।
अतिथि तेऽवजानीयात् शेषमभ्यागतं विदुः।।

सब ही तिथियाँ, पर्व और उत्सव संबंधी विकल्पों से ये महर्षि सदा ही दूर होते हैं इसीलिए इनका यथार्थ नाम 'अतिथि' होता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार करने पर आत्मा तो यही कहती है कि, महाराज वर्तमान युग के महान् सत्पात्र तो रहे ही हैं परन्तु उनके द्वारा जो ज्ञानदान और दृष्टिदान हुआ है, उससे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि महाराज श्रेष्ठ से श्रेष्ठ दानी भी रहे। पात्र समझकर जो चढ़ाया गया, वह थोड़ा था और दाता समझकर जो कुछ समाज के द्वारा लिया गया वह भी थोड़ा था, इस सत्य को स्वीकार करना होगा।

आदर्श सल्लेखना –

विचार और भावनाओं का समान संयोग आचार्यश्री के जीवन की एक विशेषता थी। भावनाओं में आकर शक्ति को व्यर्थ खोना या व्यर्थ खोने का विकल्प करना यह असंभव था। भविष्य की आशा में वर्तमान को गंवाना वे प्रकाश के बदले में अंधकार को खरीदना जैसा मानते थे। वर्षों से अखण्ड रूप से की गयी हजारों मीलों की पदयात्रा, यथासंभव अनुकूल-प्रतिकूल आहार का संयोग, उपवासों की धाराप्रवाहिता, वृद्धावस्था, अल्पनिद्रा आदि कारणों से दृष्टि में पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक मंदता का अनुभव होने लगा। वैद्य और डाक्टरों से समय-समय पर बराबर परामर्श होता था। शुद्ध उपचारों का विशुद्ध भावनाओं

से अमल भी होता था। दृष्टि विनाश होने के बाद समितियों का पालन और प्राणस्वरूप मुनिचर्या असंभव है, इसलिए साधनों की सुरक्षा सावधानीपूर्वक अप्रमाद भाव से आचार्यश्री प्रारंभ से ही करते रहे। दिनाँक 14-8-1955 को महाराज जी का सल्लेखना का ज्यों ही निर्णय प्रगट हुआ, समाज भर को, देशभर को भूचाल जैसा धक्का लगा, जो स्वाभाविक ही था।

अंतिम आहार और परित्याग –

दिनाँक 14-8-1955 को अंतिम बार बादाम का पानी दिया गया। दिनाँक 26-8-1955 को मध्यान्ह में सल्लेखना विधि के अनुसार महाराजश्री के द्वारा क्षमायाचना का, क्षमा के आदान-प्रदान का भाव व्यक्त हुआ। यह सम्पूर्ण दृश्य अभिनव था। सभा में गंभीरता का वातावरण भर आया। उपचार विधि में पूरी परमार्थता किस प्रकार हो सकती है इसका वह मूर्तिमान रूप था। केवल पानी मात्र की छूट थी। आगे चलकर पानी का भी दिनाँक 4-9-1955 को परित्याग कर दिया। फिर भी मंदिरों के दर्शन, यथाशक्ति वंदना, अभिषेक, पूजा इत्यादि का अवलोकन, मंत्रस्मरण आदि में कोई खण्ड नहीं रहा। लोगों की बढ़ती हुई भीड़ का क्या कहना? कुंथलगिरि की उस वीरान पहाड़ी का क्या कहना? कुंथलगिरि की उस वीरान पहाड़ी में जनसागर उमड़ पड़ा। जिसको भी समाचार मिला और अनुकूलता मिली, वह साधकोत्तम महापुरुष के अंतिम दर्शन के लिए वहाँ पर पहुँचा। महासाधक की वह महायात्रा थी। सम्मिश्र भावनाओं का सम्मिश्र रस रूप दृष्टिगोचर होता था। जहाँ महाराजश्री स्वाभाविक रूप से सहज-भावना से अपूर्व आनन्द रस में उन्मुक्त मन से अधिकाधिक मग्न होते हुए नजर आते थे। शांतिसागर स्वनामधन्य शांतिसागर अथाह शांति के सागर में निमग्न थे। उसी समय जनता सागर शोक में डूबता हुआ दृष्टिगोचर होता था। कुंथलगिरी का दृश्य कुछ अपूर्व था। बाहर की दुनिया में जैनाजैन समाचार पत्रों में अनुकूल-प्रतिकूल समाचार साभिप्राय प्रगट होते ही थे। अपने विकल्पों को सबके लिए छूट होती ही है। व्यक्तिस्वातंत्र्य का युग है। कोई "जैन साधु की पवित्र महायात्रा" लिखता था कोई "जैन साधूची आत्महत्या" लिखता था। युद्ध में मृत्यु हो तो "वीरमरण" कहना। देशभक्त को यदि फाँसी हो तो उसे हुतात्मता कहना यहाँ तक ही लौकिक दृष्टि की पहुँच हो सकती है। इससे भी बढ़कर साधक की समाधि हो सकती है, इसका इनको क्या पता? धर्म और अहिंसा जैसी पवित्र-पवित्रतम वस्तुओं की वर्षों से समय-असमय में बराबर खाल उतारी

जाती है, वहाँ सल्लेखना और समाधि जैसी अत्यंत पवित्र लोकोत्तम "व्रतशिरोरत्न" की जो छानबीन की चेष्टा ज्ञानी कहे जाने वाले अज्ञानियों के द्वारा हुई, उसका क्या हिसाब? पवित्रता की विडंबना ही मानो इस युग की विशेषता रही हो। जिसके पास सच्चा मापतोल ही नहीं, सूखी लकड़ियों के साथ गीली को औरकोयले को ही तौलने का तराजू हो, वह क्या उनसे रत्नों का और जवाहरात का माप तोल कर सकता है? धर्मकांटा कोई अलग वस्तु होती है। यही बात सच्ची है।

महाराजश्री की शांत स्वात्मनिर्भरता यथापूर्व हाथी की चाल से कदम-कदम पर आगे के लिए बढ़ती ही जा रही थी। दिनाँक 22-8-1955 को महाराजश्री के संकेत से ही श्रीमान् सेठ बालचंद देवचंद शहा का ताम्रपट्ट तथा ग्रंथमालाओं से की गई श्रुतसेवा के लिए सभासंयोजना पूर्वक सत्कार किया गया और मानपत्र समर्पण किया गया। स्वयं महाराजश्री आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित हुए।

अंतिम दर्शन –

शास्त्रों में सामायिक और छेदोपस्थापना का जो भी सूक्ष्म वर्णन आता है, निर्विकल्प शुद्धात्म स्वरूप मग्नता और विकल्पों में से निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप में मग्न होने का जो सावधान प्रयत्न, इन दोनों अंतरंग प्रक्रियाओं का जराजर्जर तपस्या क्षीण देही महाराज की विदेही सावधान प्रवृत्ति में जो प्रत्यक्ष दर्शन हो पाया, वह सुनिश्चित ही अद्‌भुत, अपूर्व, चैतन्यचमत्कारपूर्ण था। वैसे ही महाराज की निद्रा अत्यल्प थी। अब तो आत्म जागरण का सविशेष स्वरूप था। थकावट से निवृत्त होते ही ऊँकार के उच्चारण से जागृति होती थी। उनका संकेत था "हमे औरों के द्वारा जगाने की आवश्यकता ही नहीं है।" हम हमारे आत्मा में, हमारे घर में पूर्ण सावधान हैं। सातिशय आत्मबल का ही प्रभाव समझना होगा। महाराज अंत तक परमात्म-स्मरण कर पाये। णमोकार मंत्र का उच्चारण कर पाये। ऊँकार की वही अनुभव रस पूर्ण ध्वनि निकटवर्तियों को अन्त तक बराबर सुनने को मिली। भीतर ही सावधानता का और कौन सा बाहरी रूप हो सकता है? दिनाँक 18-9-1955 को भाद्रपद शुक्ल दूज रविवार, प्रातःकाल ठीक 6 बजकर 50 मिनट पर महाराज श्री की परमपवित्र निरामय तपस्या से पुनीत आत्मा "ॐ सिद्धाय नमः" के उच्चारण के साथ अंतिम श्वांस ले पायी। मोक्षमार्ग के साधक ने इस पर्याय की अपनी पवित्र जीवन यात्रा इस प्रकार पूरी कर परलोक यात्रा के लिए प्रस्थान कर लिया।

अब भक्तों के लिए आचार्य महाराज की केवल पुण्यस्मृति और तपस्या-

पुनीत देहमात्र शेष थी। विमान बनाया गया। जयनाद से आकाश गूंज उठा। श्रीमान् सेठ गोविन्द जी रावजी दोशी तथा श्री सौ. कुमुदिनीबाई ने विमान यात्रा का बहुमान किया। विमानयात्रा के बाद दाहसंस्कार निर्धारित उसी स्थान पर हुआ, जहाँ आज भी इस युगपुरुष की चरणपादुकाएँ विद्यमान हैं। अब ऊपर से संगमरमर की सर्वांगसुन्दर छत्री भी बन गई है, प्रेरणा लेने वाले भक्तों के लिए चरण आज भी प्रेरणा दे रहे हैं।

आचार्यश्री की रत्नत्रय साधना अत्यन्त कठोर थी। वे शरीर को पूर्णरूपेण परद्रव्य समझकर उसे कभी-कभी ही आहार प्रदान करते थे।

अपने जीवन में आचार्यश्री ने 25 वर्ष से भी अधिक दिन उपवास में निकाले हैं, जिनकी सूची निम्न प्रकार है—

उपवासों की संख्या	कितनी बार	उपवास के कुल दिन
1) 16 दिन का	3 बार	48
2) 10 दिन का	1 बार	10
3) 9 दिन का	6 बार	54
4) 8 दिन का	7 बार	56
5) 7 दिन का	6 बार	42
6) 6 दिन का	6 बार	36
7) 5 दिन का	6 बार	30
8) 4 दिन का	6 बार	24
9) अंतिम 36 दिन तक के उपवास में स्वर्गवास	1 बार	36
		योग - 336 दिन

व्रत नाम	उपवासों की संख्या
1. चारित्रशुद्धि व्रत	1234
2. तीस चौबीसी व्रत	720
3. कर्मदहन व्रत (तीन बार)	468
4. सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत (तीन बार)	270
5. सोलहकारण व्रत (16/16)	256
6. श्रुतपंचमी व्रत	36
7. विहरमान व्रत (20 तीर्थंकर व्रत)	20
8. दशलक्षण पर्व	10
9. सिद्धों के व्रत (8)	8
10. अष्टाह्निका व्रत	8
11. गणधरों के व्रत गणधरों के 1452 उपवास होते हैं। आचार्य श्री 200 ही कर पाये थे।	200
12. अतिरिक्त व्रत	6372
	योग 9602

आचार्यश्री ने अपने जीवन में 336+9602=9938 उपवास किये हैं।

आचार्यश्री द्वारा सन् 1914 से 1955 तक किये गये 42 चातुर्मासों की सूची—

स्थान का नाम	अवस्था	सन्
1. कागल ग्राम	क्षुल्लक अवस्था में	1914
2. कोगनोली	क्षुल्लक अवस्था में	1915
3. कुम्भोज	क्षुल्लक अवस्था में	1916
4. बेलगाँव	क्षुल्लक अवस्था में	1917
5. समडोली	ऐलक अवस्था में	1918
6. नसलापुर	ऐलक अवस्था में	1919
7. कागनोली	मुनि अवस्था में	1920
8. नसलापुर	मुनि अवस्था में	1921
9. ऐनापुर	मुनि अवस्था में	1922
10. कोन्नूर	मुनि अवस्था में	1923
11. समडोली	आचार्य पद प्राप्त	1924
12. कुम्भोज	आचार्य अवस्था में	1925
13. नांदडी	आचार्य अवस्था में	1926
14. बाहुबली क्षेत्र	आचार्य अवस्था में	1927
15. कटनी	आचार्य अवस्था में	1928

16. ललितपुर	आचार्य अवस्था में	1929
17. मथुरा	आचार्य अवस्था में	1930
18. दिल्ली	आचार्य अवस्था में	1931
19. जयपुर	आचार्य अवस्था में	1932
20. ब्यावर	आचार्य अवस्था में	1933
21. उदयपुर	आचार्य अवस्था में	1934
22. गोरल	आचार्य अवस्था में	1935
23. प्रतापगढ़	आचार्य अवस्था में	1936
24. गजपंथा	चारित्रचक्रवर्ती पद प्राप्त	1937
25. बारामती	चा.च. आचार्य अवस्था में	1938
26. पावागढ़	चा.च. आचार्य अवस्था में	1939
27. गोरल	चा.च. आचार्य अवस्था में	1940
28. अकलूज	चा.च. आचार्य अवस्था में	1941
29. कोरोची	चा.च. आचार्य अवस्था में	1942
30. डिग्गज	चा.च. आचार्य अवस्था में	1943
31. कुंथलगिरि	चा.च. आचार्य अवस्था में	1944
32. फलटन	चा.च. आचार्य अवस्था में	1945
33. कवलाना	चा.च. आचार्य अवस्था में	1946
34. सोलापुर	चा.च. आचार्य अवस्था में	1947
35. फलटन	चा.च. आचार्य अवस्था में	1948
36. कवलाना	चा.च. आचार्य अवस्था में	1949
37. गजपंथा	चा.च. आचार्य अवस्था में	1950
38. बारामती	चा.च. आचार्य अवस्था में	1951
39. लोणंद	चा.च. आचार्य अवस्था में	1952
40. कुंथलगिरि	चा.च. आचार्य अवस्था में	1953
41. फलटन	चा.च. आचार्य अवस्था में	1954
42. कुंथलगिरि	चा.च. आचार्य अवस्था में	1955

(1955, भादों सुदी 2 को स्वर्गवासी हुए)

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती प्रथमाचार्य श्री 108 शांतिसागर जी महाराज के संघस्थ त्यागीव्रती (शिष्य-शिष्याओं) की नामावली

मुनिगण

1. 108 मुनि श्री वीरसागर महाराज (प्रथम पट्टाधीश)
2. 108 मुनि श्री नेमिसागर महाराज (कुडचीकर)
3. 108 मुनि श्री नेमिसागर महाराज (पुत्तुरकर)
4. 108 मुनि श्री कुंथुसागर महाराज (ऐनापुर)
5. 108 मुनि श्री पायसागर महाराज (गोकाकवाले)
6. 108 मुनि श्री चंद्रसागर महाराज (नांदगांव)
7. 108 मुनि श्री सुधर्मसागर महाराज (पं. लालाराम शास्त्री)
8. 108 मुनि श्री आदिसागर महाराज (शेडबाल)
9. 108 मुनि श्री नमिसागर महाराज
10. 108 मुनि श्री अनंतकीर्ति महाराज (उत्तुरकर)
11. 108 मुनि श्री धर्मसागर महाराज (समाधिस्थल लासुर्णे, दहिगांव)
12. 108 मुनि श्री वर्धमानसागर महाराज (ज्येष्ठ बंधु देवगौंडा)
13. 108 मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति महाराज (छेदोपस्थापना करके पुनर्दीक्षा)
14. 108 मुनि श्री आदिसागर महाराज
15. 108 मुनि श्री धर्मसागर महाराज (आष्टा) समाधी वाटेगांव

आर्यिका

1. आर्यिका 105 श्री चन्द्रमती माताजी
2. आर्यिका 105 श्री विमलमती माताजी
3. आर्यिका 105 श्री अजितमती माताजी

क्षुल्लिका

1. 105 क्षुल्लिका श्री शांतमति माताजी
2. 105 क्षुल्लिका श्री अनंतमती माताजी
3. 105 क्षुल्लिका श्री शांतमती माताजी
4. 105 क्षुल्लिका श्री जिनमती माताजी
5. 105 क्षुल्लिका श्री विद्यामती माताजी

6. 105 क्षुल्लिका श्री राजुलमती माताजी
7. 105 क्षुल्लिका श्री पार्श्वमती माताजी
8. 105 क्षुल्लिका श्री सुमतिमती माताजी

क्षुल्लक

1. क्षुल्लक श्री 105 समन्तभद्र महाराज
   (आगे चलकर वर्धमानसागर महाराज से मुनिदीक्षा ली)
2. क्षुल्लक श्री 105 मल्लिसागर महाराज
3. क्षुल्लक श्री 105 सुमतिसागर महाराज (फलटण)
4. क्षुल्लक श्री 105 विमलसागर महाराज (बेलगांव)
5. क्षुल्लक श्री 105 सिद्धसागर महाराज (ब्र. भरमाप्पा)
6. क्षुल्लक श्री 105 अर्हद्दास महाराज
7. क्षुल्लक श्री 105 अजितकीर्ति महाराज
8. क्षुल्लक श्री 105 ज्ञानसागर महाराज (नंदनलाल शास्त्री)

ब्रह्मचारी फतेलाल जी इन्होंने सप्तम प्रतिमा ले ली। सरसेठ हुकुमचंद-इंदौर, इन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। ब्र. जिनदास समडोलीकर, दादा घोदे, पारिसा घोदे, डॉ. कंकुबाई शाह-म्हसवड़, गुणमाला झवेरी-मुम्बई इन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। उनमें गंगाबाई भुसारी इनका भी निर्देश करना चाहिए।

ईसवी सन् 1955 में आचार्यश्री की सल्लेखना में बत्तीस लोगों ने प्रतिमा ले ली। उसके पहले भी कुछ लोगों ने प्रतिमा ले ली। उसमें से कुछ लोगों के शुभनाम-

नाम	प्रतिमा
1. श्री हीराचंद ज्योतिचंद शाह सर्राफ, बारामती	सप्तम
2. सौ. रतनबाई हीराचंद शाह सर्राफ	सप्तम
3. सौ. गुलाबबाई गेंदनमल झवेरी, मुम्बई	दूसरी
4. सौ. माणिकबाई चंदुलाल शाह सर्राफ, बारामती	दूसरी
5. श्री चंदूलाल ज्योतिचंद शाह सर्राफ, बारामती	दूसरी
6. श्री तुलजाराम चतुरचंद शाह सर्राफ, बारामती	दूसरी
7. श्री रावजी हरिचंद्र शाह, मोडनिंब	दूसरी
8. श्री गुलाबचंद्र तडवलकर, सोलापुर	दूसरी

9. श्री भाईचंद नेमचंद गांधी, नातेपुते	आजन्म ब्रह्मचर्य
10. श्री तलकचंद नेमचंद गांधी, नातेपुते	आजन्म एक भुक्ति नियम
11. सौ. चंपाबाई तलकचंद गांधी, नातेपुते	दूसरी
12. श्री रामचंद धनजी दावड़ा, नातेपुते	सातवीं
13. श्रीमती गमनबाई गौतमचंद चंकेश्वरा, नातेपुते	दूसरी
14. लीलावती हीराचंद गांधी, नातेपुते	दूसरी
15. श्रीमती हीरूबाई, नातेपुते	दूसरी
16. कु. माणिकबाई गौतमचंद चंकेश्वरा, नातेपुते	आजन्म ब्रह्मचर्य
17. श्री बाबुराम मार्ले	सप्तम
18. श्री कुमगौंडा पाटिल (छोटे भाई)	सप्तम
19. श्री जनगौंडा कुमगौंडा पाटिल	दूसरी
20. सौ. लक्ष्मी जनगौंडा पाटिल	दूसरी
21. श्रीमती जिऊबाई जिवराज दोशी, फलटण	पाँचवी
22. श्री माणिकचंद उगरचंद शहा, बारामती	दूसरी
23. सौ. मथुराबाई और पति श्री खुशालचंद कोदरजी गांधी, फलटण	आजन्म ब्रह्मचर्य

(और भी अनेक)

मानव कल्याण का आधार सत्य और अहिंसा

(आचार्य महाराज का अंतिम अमर संदेश)

(परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने कुंथलगिरि तीर्थ पर आमरण अनशन के 26वें दिन ता. 8 सितम्बर को शाम के 5 बजे मराठी में मानव-कल्याण के लिए जो उपदेश दिया, वह रिकार्ड किया गया था। आचार्य श्री के उस अमर संदेश का हिन्दी में अनुवाद समाज की जानकारी के लिए यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः-3, पंचभरत, पंचऐरावत के भूत भविष्यत्काल संबंधी भगवानों को नमस्कार हो। तीस चौबीसी भगवानों को, श्री सीमन्धर आदि बीस तीर्थंकर भगवानों को नमस्कार हो। भगवान ऋषभदेव से महावीर पर्यंत के 1452 गणधर देवों को नमस्कार, चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नमस्कार,चौंसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वरों को नमस्कार। अन्तकृतकेवलियों को नमस्कार। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले 10-10 घोरोपसर्ग विजेता मुनीश्वरों को नमस्कार हो।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व प्रमाण शास्त्र महासमुद्र है। उनका वर्णन करने वाले श्रुतकेवली नहीं हैं, उसके ज्ञाता केवली, श्रुतकेवली भी अब नहीं हैं। उसका वर्णन हमारे सदृश क्षुद्र मनुष्य क्या कर सकते हैं? जिनवाणी सरस्वती 'श्रुतदेवी' अनन्त समुद्र तुल्य है। उसमें कहे गये जिनधर्म को जो धारण करता है, उसका कल्याण होता है, उसको अनन्त सुख मिलता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा नियम है। एक अक्षर ॐ है। उस एक ॐ अक्षर को धारण करके जीवों का कल्याण हुआ है। दो बन्दर लड़ते-लड़ते सम्मेदशिखर से स्वर्ग गये। सेठ सुदर्शन तिर गया। सप्त व्यसनधारी अंजन चोर तिर गया। कुत्ता महानीच जाति का जीव जीवन्धरकुमार के णमोकार मंत्र के उपदेश से देव हुआ। इतनी महिमा जैनधर्म की है किन्तु (श्वांस लेते हुए) जैनियों को अपने धर्म में श्रद्धा नहीं है।

जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं –

अनन्त काल से जीव पुद्गल से भिन्न है, यह सब लोग जानते हैं पर विश्वास नहीं करते। पुद्गल भिन्न है जीव अलग है। तुम जीव हो, पुद्गल जड़ है इसमें ज्ञान नहीं है, ज्ञान-दर्शन चैतन्य जीव में है। स्पर्श-रस-गंध-वर्ण पुद्गल में हैं, दोनों के गुण, धर्म अलग-अलग हैं। पुद्गल के पीछे पड़ने से जीव को हानि होती है। तुम जीव हो, मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। जीव के पक्ष से

पुद्गल का अहित है। पुद्गल से जीव का घात होता है। अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष जीव को ही होता है पुद्गल को नहीं, सब जग इसको भूला है। जीव पंच पापों में पड़ा है। दर्शन मोहनीय के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है। क्या करना चाहिए? सुख प्राप्ति की इच्छा है, तो दर्शन मोहनीय का घात करो, चारित्र मोह का नाश करो, आत्मा का कल्याण करो, यह हमारा आदेश व उपदेश है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव संसार में फिरता है। मिथ्यात्व का नाश करो, सम्यक्त्व को प्राप्त करो। सम्यक्त्व क्या है? सम्यक्त्व का वर्णन समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, गोम्मटसार आदि बड़े-बड़े ग्रंथों में है, पर इन पर श्रद्धा कौन करता है? आत्म-कल्याण करने वाला ही श्रद्धा करता है। मिथ्यात्व को धारण मत करो, यह हमारा आदेश व उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

कर्म की निर्जरा का साधन आत्म-चिंतन –

तुम्हें क्या करना चाहिए? दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करो, आत्मचिन्तन से दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होता है, कर्मों की निर्जरा भी आत्मचिन्तन से होती है।

दान से, पूजा से, तीर्थ यात्रा से पुण्य-बंध होता है। हर धर्म कार्य से पुण्य का बंध होता है किन्तु कर्म की निर्जरा का साधन आत्म-चिंतन है। केवलज्ञान का साधन-आत्म-चिंतन है। अनन्त कर्मों की निर्जरा का साधन आत्म-चिन्तन है। आत्म-साधन के सिवा कर्म-निर्जरा नहीं होती है। कर्म निर्जरा बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता। क्या करें? शास्त्रों में आत्मा का ध्यान उत्कृष्ट 6 घड़ी, मध्यम 4 घड़ी और जघन्य 2 घड़ी कहा है। कम से कम 10-15 मिनट ध्यान करना चाहिए। हमारा कहना यह है कि कम से कम 5 मिनट तो आत्म-चिन्तन करो। इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता है। सम्यक्त्व के पश्चात् संयम धारण करो। सम्यक्त्व होने पर 66 सागर यहाँ रहोगे। चारित्र मोहनीय का क्षय करने के लिए संयम धारण करना चाहिए, इसके बिना चारित्र मोहनीय का क्षय नहीं होता। संयम धारण किये बिना सातवाँ गुणस्थान नहीं होता और सातवें गुणस्थान के बिना उच्च आत्म-अनुभव नहीं होता। वस्त्रधारी को सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है।

सम्यक्त्व और संयम धारण के बिना समाधि संभव नहीं –

ॐ सिद्धाय नमः। समाधि दो प्रकार की है–एक निर्विकल्प समाधि और दूसरी सविकल्प समाधि। गृहस्थ सविकल्प समाधि धारण करता है। मुनि हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होगी अतएव निर्विकल्प समाधि पाने के लिए पहले

मुनि पद धारण करो। इसके बिना निर्विकल्प समाधि कभी नहीं होगी। निर्विकल्प समाधि हो तो सम्यक्त्व होता है, ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है। आत्म-अनुभव के सिवाय नहीं है। व्यवहार सम्यक्त्व खरा (परमार्थ) नहीं है। फूल जैसे फल का कारण है, व्यवहार सम्यक्त्व आत्म-अनुभव का कारण है। आत्म-अनुभव होने पर खरा (परमार्थ) सम्यक्त्व होता है। निर्विकल्प समाधि मुनि पद धारण करने पर होती है। सातवें गुण-स्थान से बारहवें पर्यंत निर्विकल्प समाधि होती है। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, ऐसा शास्त्र में कहा है। यह विचार कर डरो मत कि क्या करें? संयम धारण करो। सम्यक्त्व धारण करो। इसके सिवाय कल्याण नहीं है, संयम और सम्यक्त्व के बिना कल्याण नहीं है। पुद्गल और आत्मा भिन्न हैं, यह ठीक-ठीक समझो। तुम सामान्य रूप से जानते हो, भाई, बन्धु, माता, पिता पुद्गल से संबंधित हैं, उनका जीव से कोई संबंध नहीं है। जीवअकेला है। बाबा (भाइयों)! जीव का कोई नहीं है। जीव भव-भव में अकेला जावेगा। देवपूजन, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, दान और तप ये धर्म कार्य हैं। असि, मसि कृषि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य ये 6 कर्म कहे गये हैं। इनसे होने वाले पापों का क्षय करने को उक्त धर्म क्रिया कही है, इससे मोक्ष नहीं है। मोक्ष किससे मिलेगा? केवल आत्म-चिंतन से मोक्ष मिलेगा और किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता।

जिनवाणी का अपूर्व माहात्म्य –

भगवान की वाणी पर पूर्ण विश्वास करो, इसके एक-एक शब्द से मोक्ष पा जाओगे। इस पर विश्वास करो। सत्य वाणी यही है कि एक आत्म-चिंतन से सब साध्य है और कुछ नहीं है। बाबा (भाई)! राज्य, सुख, सम्पत्ति, संतति सब मिलते हैं, मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष का कारण एक आत्म-चिंतन है। इसके बिना सद्गति नहीं होती है।

सारांश-''धर्मस्य मूलं दया'' प्राणी का रक्षण दया है। जिन धर्म का मूल क्या है? ''सत्य और अहिंसा।'' मुख से सब सत्य-अहिंसा बोलते हैं। मुख से भोजन कहने से क्या पेट भरता है? भोजन किये बिना पेट नहीं भरता है, क्रिया करनी चाहिए। बाकी सब काम होंगे। सत्य अहिंसा पालो। सत्य से सम्यक्त्व है। अहिंसा से दया है। किसी को कष्ट नहीं दो। यह व्यवहार की बात है। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो। इसके बिना कल्याण नहीं हो सकता।

ॐ सिद्धाय नमः

गुरूणांगुरु आचार्यश्री शांतिसागर जी के पावन संस्मरण

–गणिनी ज्ञानमती

चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज ''नीरा'' गांव में विराजमान थे। मैंने जाकर दर्शन किये। सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर विधिवत् वंदना की। आचार्यश्री ने आशीर्वाद दिया। क्षुल्लिका विशालमती ने रत्नत्रय कुशल पूछा। अनंतर महाराज तो आसन पर बैठे हुए थे। ब्र. जिनदास जी कोई शास्त्र पढ़कर सुना रहे थे।

मैं बैठी थी कि मेरी आँखों में हर्ष के आँसू आ गये। महाराज जी ने मेरा परिचय पूछा। विशालमती जी ने सब बताया और उम्र भी बताई कि अभी यह 19-20 वर्ष की है। दो वर्ष हुए आचार्य देशभूषण जी से दीक्षा ली है। इसकी दीक्षा के समय सामाजिक विरोध तो बहुत ही हुआ था किन्तु इसकी दृढ़ता गजब की थी। आचार्यश्री प्रसन्न हुए पुनः स्वाध्याय के बाद उन्होंने बड़े ही प्रेम से मुझे कुछ शिक्षाएँ दीं। वे बोले–

''अभी तुम्हारी उम्र बहुत ही छोटी है, तीस वर्ष तक किसी न किसी के साथ रहना, अकेली नहीं रहना। खूब धार्मिक अध्ययन करना, अनगारधर्मामृत, भगवती आराधना और समयसार अवश्य पढ़ना। मैंने भगवती आराधना 36 बार पढ़ी है।''

और भी बहुत कुछ शिक्षाएँ दीं। उस समय मुझे ऐसा लगा कि मानो मैंने संसार के अंत करने वाले महान् गुरु को ही पा लिया। उनकी शिक्षाएँ हमें अमृत से भी अधिक प्रिय लगीं। मैंने मन ही मन अपने भाग्य को सराहा और सोचने लगी कि–

''यद्यपि दीक्षा लेने के बाद मुझे रेल-मोटर पर बैठना बहुत ही अखरा था पर आज वह सफल हो गया चूँकि मैं पद-विहार से तो आज आचार्यदेव के दर्शन नहीं कर सकती थी।''

दूसरे दिन प्रातःकाल आकर गुरुदेव की वंदना की। वहीं बैठी रही। एक ब्रह्मचारी पाठ सुना रहे थे, मैं भी सुनती रही, अनंतर स्वाध्याय सुनाया। आचार्यश्री बीच-बीच में चर्चा करते थे। कोई विशेष बात समझाते भी थे। इसके

बाद आचार्यश्री का आहार देखा, अनंतर स्वयं आहार लिया पुनः दो बजे आचार्यश्री के निकट आकर बैठ गई। उस समय चार-पाँच प्रमुख श्रावक आचार्यश्री के पास कुछ विज्ञप्ति लेकर आये थे। वे लोग निवेदन कर रहे थे–

"पूज्य गुरुदेव! मुनि जंबूसागर जी के बारे में क्या करना है? समाज चिंतित है।

महाराज जी ने गंभीर मुद्रा में उत्तर दिया-"यदि वह मेरे पास आये तो कुछ समझाऊँ अथवा प्रायश्चित देकर सुधार भी करूँ।.....फिर भी दिगम्बर मुद्रा का अपमान या बहिष्कार, श्रावकों को कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। आप लोगों को उन्हें समझाना चाहिए। नहीं मानते हैं तो उपेक्षा कर देनी चाहिए। बस इसके आगे उनकी निंदा अखबारों में निकालना गलत है। इससे मोक्ष-मार्ग में चलने वाले निर्दोष साधुओं की भी कीमत घटती है। इत्यादि।"

आचार्य महाराज के इन शब्दों को सुनकर श्रावक हँसने लगे और अन्य भी कुछ शंका का समाधान प्राप्त कर ये लोग चले गये।

मुझे जब वह दृश्य याद आता है तब मानो आचार्यश्री के वे शब्द मेरे कानों में गूंजने ही लगते हैं कि उपगूहन अंग का उपदेश उन्होंने कितने अच्छे ढंग से दिया था। आज के भी सुधारकवादियों को वे शब्द ध्यान देने योग्य हैं। बहुत से प्रमुख सुधारक श्रावक आज अपनी संतान को मद्य, मांस, मधु, वेश्यासेवन आदि से नहीं रोक पा रहे हैं किन्तु उन्हें सारे साधुओं के चरित्र की और धर्म की चिंता हो रही है। अखबारों में 99 प्रतिशत गलत, मुनि-निंदा छाप-छापकर मोक्षमार्ग को सुधारने की डींग भर रहे हैं। भला ऐसे लोग मोक्ष-मार्ग को कैसे चलायेंगे?

आचार्यश्री ने किसी चर्चा के प्रसंग पर यह भी बताया कि-"उत्तर प्रान्त के पंडितवर्ग शास्त्रों के बहुत से अंश को भट्टारक द्वारा प्रक्षिप्त कहकर निकाल देते हैं। सचमुच में उन्हें नरक निगोद का भय नहीं है।"

आचार्यश्री का यह प्रथम दर्शन मुझे सन् 1954 में दिसम्बर में प्राप्त हुआ था पुनः दूसरी बार सन् 1955 में दर्शन प्राप्त किये, जब चारित्रचक्रवर्ती आचार्य देव बारामती में विराजमान थे। वहाँ से कुंथलगिरि विहार करने वाले थे। यह निर्णय हो चुका था कि–

'आचार्य महाराज अब कुंथलगिरि में यम सल्लेखना लेने वाले हैं अतः यह उनका अंतिम विहार है।'

इस प्रसंग पर मैं भी क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ यहाँ आ गई

थी। क्षुल्लिका अजितमती अम्मा और क्षुल्लिका जिनमती अम्मा ये दोनों ही यहाँ थीं। आचार्य श्री का दर्शन कर मन गद्गद हो गया। आचार्य श्री मुझे उत्तर की अम्मा या अयोध्या की अम्मा कहकर सम्बोधते थे, उस समय उनके शब्द मुझे अमृत के समान मधुर और प्रिय लगते थे। सामने बैठे हुए भक्तगण चातक पक्षी के समान आचार्यश्री के मुखकमल की ओर एकटक निहारा करते थे। मध्य में कदाचित् आचार्यश्री के मुखारविंद से कुछ भी शब्द निकलते कि सुनकर सभी भावविभोर हो जाते थे।

मेरे भाव आर्यिका दीक्षा लेने के हो रहे थे अतः मैंने क्षुल्लिका विशालमती जी से कई बार कहा था कि मुझे आचार्यश्री से आर्यिका दीक्षा दिला दो परन्तु वे कहती थीं–'अम्मा! अभी कुछ दिन ठहरो, हम और आप दोनों एक साथ आर्यिका दीक्षा लेवेंगी।'

'एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने स्वप्न में निर्धूम अग्नि जलते हुए देखा था तथा सामायिक में मेरे भाव बहुत ही तीव्रता से आर्यिका दीक्षा के हो रहे थे।'

मैंने प्रातः विशालमती जी से अपने भाव भी सुनाये और पिछली रात्रि का स्वप्न भी सुनाया। तब उन्होंने कहा–

"अम्मा! तुम्हें सच्चा वैराग्य है। अब मैं तुम्हें दीक्षा में बढ़ने से नहीं रोकूँगी। चलो बारामती में आचार्यश्री से प्रार्थना करना, वहीं पर तुम्हें दीक्षा दिला दूँगी।"

अतः इस अवसर पर मैंने आचार्यश्री से प्रार्थना की और कहा– "हे गुरुदेव! हमें संसार समुद्र से पार होने के लिए आर्यिका दीक्षा प्रदान कीजिये।"

आचार्यश्री ने बहुत ही कोमल शब्दों में कहा–"अब मैंने दीक्षा नहीं देने का नियम ले लिया है अतः तुम मेरे प्रथम शिष्य आचार्यकल्प वीरसागर मुनिराज के पास दीक्षा ले लो। मैं सूचना भिजवा दूँगा अथवा तुम्हें तुम्हारे शरीर, स्वास्थ्य और भाषा आदि के अनुकूल उत्तरप्रान्त ठीक रहेगा। वहाँ वीरसागर जी महाराज हैं, उनके संघ में वयोवृद्ध आर्यिकायें भी हैं। तुम उसी संघ में जाकर दीक्षा लेओ तो अच्छा रहेगा क्योंकि इधर इस समय कोई आर्यिकायें नहीं हैं।"

आचार्यश्री की मृदुमय वाणी सुनकर यद्यपि मेरे भाव अति उग्र थे कि "अभी-अभी दीक्षा ले लूँ।" फिर भी शांति रखनी पड़ी और यही सोचा कि इस वर्ष का चातुर्मास इसी प्रांत में करके आचार्यदेव की सल्लेखना देख लूँ पुनः चातुर्मास के बाद दीक्षा लूँगी।

एक दिन आचार्यदेव ने रेल-मोटर पर बैठने वाले क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के प्रति अनादरभाव व्यक्त किये। तब विशालमती ने कहा–

"महाराज जी! यह क्षुल्लिका वीरमती तो रेल-मोटर में कतई नहीं बैठना चाहती थी परन्तु इसके गुरु आचार्य देशभूषण जी 20-25 मील पैदल चलते हैं। उन्होंने जबर्दस्ती इसे बैठने का आदेश दिया है।"

उसी समय मैंने आचार्यश्री के सानिध्य में यह नियम कर लिया कि–"इस चातुर्मास के बाद बाहुबली की यात्रा करके जिनसे दीक्षा लेनी है, उनके पास पहुँचने तक ही मैं रेल-मोटर में बैठूँगी। उन गुरु के पास पहुँचकर यावज्जीवन मैं रेल-मोटर में बैठने का त्याग करती हूँ।"

मेरे इस त्याग से आचार्यदेव बहुत ही प्रसन्न हुए और मुझे बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया।

वहाँ बारामती में विहार के समय जिनेंद्रदेव का रथ निकाला गया था। उस रथ को चमेली और जूही के फूलों से इतना सुन्दर सजाया गया था कि जो देखते ही बनता था। उस पर छोटी-छोटी दो कन्याएँ हाथ में चँवर लेकर खड़ी थीं। वे भी फूलों से ही सजी हुई थीं। भक्तों की भीड़ बेशुमार थी। आस-पास गाँव के सभी स्त्री-पुरुष आचार्यश्री के अंतिम विहार को देखने के लिए उपस्थित हो गये थे। सेठ चांदूमल जी सर्राफ उस समय बारामती के प्रसिद्ध मुनि-भक्त व्यक्ति थे।

आचार्यदेव ने मंगल आशीर्वाद देकर अपना अंतिम विहार कर दिया। वे भगवान् के रथ के साथ-साथ चल रहे थे। यह भव्य जुलूस सेठ चंदूलाल जी के बगीचे में पहुँचा और वहाँ सभा के रूप में परिणत हो गया। भक्तों ने आचार्यश्री के चरणों की रज अपने-अपने मस्तक पर चढ़ाई और हर्ष-विषाद से मिश्रित भावों को लिए हुए वापस अपने-अपने स्थान चले गये। उस समय आचार्यश्री के मंगल विहार के समय प्रायः सभी की आँखें सजल थीं चूँकि लोगों को यह विदित था कि अब आचार्यश्री कुंथलगिरि पहुँचकर पुनः इस पर्याय में विहार नहीं करेंगे।

हम दोनों क्षुल्लिकाओं ने सन् 1955 का यह चातुर्मास म्हसवड़ गांव में कर लिया, वहाँ स्थापना के समय विशालमती जी ने सूचना कर दी थी कि–"आचार्यश्री की सल्लेखना देखने के लिए हम दोनों कुंथलगिरि जावेंगी।"

तीसरी बार आचार्यश्री के दर्शन–

यहाँ कुंथलगिरि में क्षुल्लिका अजितमती अम्मा, जिनमती अम्मा थीं। हम दोनों म्हसवड़ से आकर यहाँ उन्हीं के कमरे में ठहर गयीं। वहाँ प्रतिदिन लगभग

एक लाख स्त्री-पुरुष आते थे और प्रायः इतने ही दर्शन कर चले जाते थे। भीड़ का पार नहीं था। व्यवस्थापक लोग परेशान थे। वर्षा चालू थी। लोग छतरी खोलकर उसके नीचे भी खाना बनाकर खाते थे।

हमने सल्लेखनारत आचार्यश्री के दर्शन किये। मन प्रसन्न था अतः इतनी भयंकर भीड़ और ठहरने की समुचित व्यवस्था न होते हुए भी वहाँ से जाने की इच्छा नहीं हुई। सल्लेखना होने तक वहीं ठहरने का निर्णय बना लिया।

प्रतिदिन प्रातः और मध्यान्ह कुंथलगिरि के पर्वत पर चढ़ जाती थी, वहाँ पर आचार्यश्री के दर्शन कर किसी भी मंदिर में बैठकर धर्माराधना किया करती थी। वहाँ प्रातःकाल पहले पंचामृत अभिषेक के लिए बोली होती थी। जो भक्त बोली लेते थे, वे सपत्नीक सपरिवार वहीं पर्वत पर मंदिर में विराजमान भगवान् देशभूषण जी और भगवान कुलभूषण जी की 4-5 फुट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करते थे। आचार्यश्री वहीं वेदी में बैठकर अभिषेक देखते थे। वहाँ पर एक दिगम्बर मुनि पिहितास्रव नाम के आये हुए थे। आठ-दस क्षुल्लक थे। शायद हम सब ग्यारह-बारह क्षुल्लिकाएँ थीं। कोल्हापुर के भट्टारक लक्ष्मीसेन जी आदि कई एक भट्टारक थे। सभी साधु-साध्वी मंदिर में ही बैठ जाते थे। अभिषेक के समय आचार्यश्री की भक्ति-भावना देखते ही बनती थी। उस समय वहाँ पर गन्ने के रस की जगह गुड़ का रस बनाया जाता था, जो कि बड़े घड़े भर रहता था। दूध भी घड़ों में भरा रहता था। एक वृद्धा चन्दन घिसने बैठ जाती थी। वह एक बड़े से चाँदी के कटोरे को गाढ़े-गाढ़े चंदन से घिसकर भर देती थी। काश्मीरी केशर के घिसे चंदन का रस इतना बढ़िया दिखता था कि जब वह भगवान् की प्रतिमाओं के सर्वांग में लेपन कर दिया जाता था, तब आचार्य महाराज बहुत ही प्रसन्न होकर गद्गद भावों से भगवान को निहारने लगते थे। उनके अभिषेक देखने का प्रेम आज भी हमें याद आ जाया करता है।

इस वर्ष भाद्रपद दो थे। आचार्यदेव ने दिनाँक-26-8-55 को सल्लेखना ली थी पुनः प्रथम भाद्रपद शुक्ला सप्तमी विक्रम संवत् 2012, बुधवार को प्रातः अपने प्रथम निर्ग्रंथ शिष्य श्री वीरसागर मुनिराज को आचार्यपद देने की घोषणा की थी। आचार्यदेव उस समय बोले थे–

"मेरे शिष्य वीरसागर मुनि इस समय मुझसे बहुत दूर जयपुर में हैं, यदि वह यहाँ होते तो मैं अपने हाथ से आचार्यपट्ट के संस्कार की क्रिया करता......।"

इसके बाद पर्वत के नीचे पच्चीसों हजार की सभा में यह आचार्यपद वीरसागर

जी को देने की आचार्यदेव की घोषणा सुनाई गई थी। उसी दिन आचार्यदेव ने स्वयं अपने सामने संघपति गेंदनमल बम्बई वालों से आचार्यपट्ट की घोषणा का पत्र लिखवाया था, जिसे ब्र. सूरजमल जी आदि लेकर जयपुर खानिया पहुँचे थे।

एक दिन आचार्यश्री ने पर्वत पर भी मात्र गरम जल लिया था। तब हम लोगों ने उनका यह अंतिम जल का आहार देखा था। उसके बाद आचार्यश्री ने जल का भी त्याग कर दिया था।

18 सितम्बर सन् 1955, द्वितीय भादों सुदी द्वितीया रविवार को प्रातः 6 बजकर 50 मिनट पर आचार्यश्री ने 'ॐ सिद्धाय नमः' मंत्र का उच्चारण करते हुए इस नश्वर शरीर को छोड़ दिया।

उसके पूर्व उन्होंने उस कुटी के अंदर ही भगवान की प्रतिमा का अभिषेक देखा था और प्रतिमाजी के चरण स्पर्श कर अपने मस्तक पर लगाये थे। ऐसे वीरमरण से मृत्यु को महोत्सव बनाने वाले बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती गुरूणांगुरु आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के श्रीचरणों में मेरा कोटि-कोटि वंदन है।

यह सन् 1955 का चातुर्मास म्हसवड़ (महा.) में पूर्ण कर मैं जयपुर में विराजमान आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के संघ में आ गई। सन् 1956 में वैशाख कृ. द्वितीया के दिन आचार्यश्री के करकमलों से आर्यिका दीक्षा प्राप्त कर मैंने 'ज्ञानमती' नाम प्राप्त किया। ऐसे प्रथमाचार्य के प्रथम पट्टाधीश दीक्षागुरु आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के श्रीचरणों में भी मेरा कोटि-कोटि नमन है।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी की यमसल्लेखना के अवसर पर सादर समर्पित विनयांजलि

विश्ववंद्य जगद्हितैषी चारित्रचक्रवर्ती हे शांतिसागर! इस विकट समय में जब कि अज्ञानरूपी अंधकार में यह जैन समाज अपनी स्वात्मनिधि को ढूंढ रही थी, उस समय आपने ज्ञानरूपी सूर्य बन करके प्रत्येक कोने-कोने में प्रकाश फैला दिया, सूर्य की किरणों में उष्णता रहती है परन्तु अहो शांतिसूर्य! आपके प्रकाश में एक अतीव शांति मिल रही है।

हे शांति सुधाकर! आपने दक्षिण, उत्तर इत्यादि चारों तरफ के जीवों को स्वात्मानुभव अमृत का पान कराया और करा रहे हैं कि जिसके फलस्वरूप वे कृतकृत्य हो गये हैं।

हे अकलंक! स्वतः कलंकरहित होते हुए आपने भव्यजीवों के लिए कर्मकलंक को दूर करने का मार्ग दिखलाया। नाथ! इसलिए आज यह जैन जनता आपको पाकर सनाथ हो गई है। अहो भगवन्! इस मर्त्यलोक में आपकी कीर्तिरूपी ध्वजा फहरा रही है, जो कि गगनचुंबित हो जाने से मानो सबको बुला रही है कि आओ-आओ हे धर्मवीरों! आओ! परमशांति को प्राप्त करो।

हे मुनिवर! मर्त्यलोक के सौभाग्य तिलक! आज इस "वसुन्धरा" देवी के सौभाग्य को देखकर ही मानो "स्वर्गश्री" को ईर्ष्या उत्पन्न हो गई है क्या? जो कि इस "धरावती" के सौभाग्य को छीनने का प्रयत्न कर रही है परन्तु हे "स्वर्गश्री" तू याद रख, इस मत्सरभाव से तुझे क्या सदैव सुख मिल सकता है? नहीं, एक न एक दिन तुझे भी वसुन्धरा के समान होना पड़ेगा क्योंकि यह "वर" मुक्तिश्री के ही योग्य है। उसे ही अक्षयसुख भोगने का अधिकार है।

हे जिनपुत्र! आपको जिनेंद्रप्रभु ने जो "युवराज" पदवी प्रदान की है, सो ठीक ही है, क्योंकि भविष्य में त्रिभुवनराज्य के अधिकारी आप ही हैं।

हे भट्टारक! युद्ध क्षेत्र में आपकी इस वीरता को देखकर मोह सम्राट् की सेना भयभीत हो स्तब्ध है तथा विचार में है कि कदाचित् एक वीरभट से हार गये तो क्या हुआ, क्योंकि सर्वलोक में हमारी सत्ता बलवान है ही।

हे धर्मवीर! यमराज से हँस-हँस कर सामना करने वाले व मृत्यु को

महोत्सव मानने वाले ''जिनकुमार'' के सिवाय कौन हो सकते हैं? कोई नहीं, परन्तु हम लोग अपने स्वार्थ के वश होकर खेदखिन्न हो रहे हैं।

''अहो धर्मस्तम्भ व धर्म की धुरा के धारक! आपने इस धुरा को ''श्री वीरसागर'' जी के कंधों पर धरकर उन्हें उत्तराधिकारी बनाया कि जिससे आचार्य परम्परा के द्वारा भव्यजीव अपना कल्याण करते रहें। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि जिससे हम लोगों को कुछ संतोष प्राप्त हुआ, जिनशासन की छत्रछाया में चिरकाल तक रहकर हम लोग संसाररूपी ताप से बचते रहेंगे।

हे सिद्धांतसंरक्षक व धर्मतीर्थसंवर्द्धक! जिस प्रकार कलिकाल में धर्मसंरक्षण के लिए श्री धरसेनाचार्य ने जिनश्रुत को श्री पुष्पदंत जी व भूतबलि जी को पढ़ाया था तथा उन महर्षियों ने उसे षट्खंडागम के रूप में लिपिबद्ध किया था, वैसे ही वर्तमान में आपने उसी परमपावन षट्खंडागम धवलग्रंथ को ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण करवाकर चिरकाल तक जिनशासन की रक्षा की। ऋषिवर्य! आपके लोकोपकार अवर्णनीय हैं। हम लोग उसे शब्दबद्ध कहाँ तक करेंगे?

हे जगद्गुरो! इस श्रद्धारूपी कुसुमांजलि को भरकर आपके चरणकमलों में समर्पण करते हुए विनम्र होकर शत-शत बार नमस्कार करते हुए मैं यह प्रार्थना करती हूँ। यही आशीर्वाद दीजिए कि आपके पदचिन्हों पर चलकर अपनी जीवनयात्रा सफल कर सकूँ। नमोस्तु-3

ॐ ह्रीं श्री शांतिसागर मुनीश्वराय नमः

द्वितीय भाद्रपद कृ. 3, वीर नि. सं. 2481 **क्षुल्लिका वीरमती**
सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी, ईसवी सन् 1955 **(वर्तमान गणिनी ज्ञानमती)**

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की प्रत्यक्ष शिष्या आर्यिका श्री अजितमती माताजी ने सन् 1991 में अपनी सल्लेखना से पूर्व अंकलीकर श्री आदिसागर महाराज के विषय में पत्राचार से जो तथ्य प्रेषित किये थे, वह यहाँ ज्यों की त्यों प्रस्तुत हैं–

प्रचलित वाद आणि सत्य

अलिकडे काही वर्षात दिगंबर जैन समाजात एक वाद चांगलाच फोफावू लागला आहे. 'अंकलीकर आदिसागर मुनींना आचार्यपद होते का आणि ते आचार्यश्री शांतिसागर महाराजांचे मुनीदीक्षेचे गुरू आहेत का?' या विषयावर खोटा प्रचार अपुया माहितीआधारे करुन समाजाची दिशाभूल केली जात आहे. या विषयावर अधिकृतपणे बोलण्याचा अधिकार फक्त त्याच व्यक्तींना आहे–जे शांतिसागर महाराजांचे समकालीन आहेत, त्यावेळी असणान्या (पूर्वाश्रमीचे गाव-नाव वेगळेपणासहित) अनेक आदिसागर मुनींनाही ओळखतात. त्यापैकी एक प.पू. अम्मा. त्यासंदर्भात त्यांच्या सूचनेवरून हस्तिनापूरला लिहिलेले पत्र येथे देत आहे. त्यामुळे समाजाला सत्य माहीत पडेल आणि खोट्या प्रचाराला कोणीही बळी पडणार नाही. आचार्य महावीर कीर्ती आणि एक माताजी याखेरीज अंकलीकर आदिसागरनी कोणालाही दीक्षा दिलेली नाही. त्यांना आचार्यपद फक्त दोन दीक्षेत मिळाले कसे? दिले कोणी? ज्यांच्याजवळ चतुर्विध संघ नाही ते आचार्य कसे? त्यांना चारित्रचक्रवर्ती, समाधिसम्राट, मुनिकुंजरनाथ वगैरे कोणतीही पदवीनव्हती. आता देणे किंवा आहे म्हणणे, म्हणजे असत्याची पूजा करणे होय.।

श्री

वी.नि.सं. 2517
माघ शुक्ला पौर्णिमा
बुद्धवार,
तारीख-30-1-91
बारामती

पूज्य अभीक्षणज्ञानोपयोगी, जिनधर्मप्रभाविका,
आर्यिका 105 श्री ज्ञानमती माताजी,
तथा संघस्थ सर्व आर्यिकाओं के प्रति,
परमपूज्य आचार्यरत्न, चारित्रचूड़ामणी

108 श्री बाहुबली महाराज तथा परम पूज्य मुनि 108 श्री अर्हद्बली महाराज का समाधिरस्तु आशीर्वाद। अत्रस्थ सर्व आर्यिकाओं का आप सभी आर्यिकाओं को वंदामि।

क्षपकोत्तमा पूज्य विदुषी रत्न चारित्रचंद्रिका 105 श्री अजितमती माताजी की वंदना।

अत्र सर्वमपि क्षेममस्ति, तत्राप्यस्तु।

पूज्य माताजी का शक्तिपात दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। डेढ़ कटोरी उड़द का पानक और आधी कटोरी दूध मात्र आहार चल रहा है। इसमें भी घटाने की उनकी तीव्र भावना है। कल तो चौदस का उपवास था। रात में थोड़ा ठंडापन मालूम पड़ता है लेकिन दिनभर कड़ी धूप–तीव्र गरमी लगती है। फिर भी माताजी क्षुधा, तृषा उष्णपरीषहविजयी होकर निरलस निष्प्रमाद रूप से अपने महाव्रत पालन में अतीव दक्ष हैं। त्रिकाल सामायिक स्वाध्यायादि क्रियाएँ अभी भी बैठकर ही करती हैं। शरीर में वायुप्रकोप की वेदनाएँ हैं।

आपके द्वारा भेजी गई कैसेट सुनते समय माताजी को बहुत आनन्द आया। इतनी दूर होते हुए भी आपने ज्ञानामृत भोजन परोसा। क्षपक ने भी ज्ञानानन्द विभोर होकर सुन लिया। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अनुकूलता पूरी पूरी है। संघस्थ सभी आर्यिकाएँ वैयावृत्य में तत्पर हैं। निर्यापकाचार्य का वात्सल्य और सावधानता प्रशंसनीय है। सब क्रियाएँ शास्त्रोक्त विधिवत चल रही हैं। यह सब देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त है अतः और गुरुसेवा करने का मौका मिलने के कारण श्रीमती जिनमती कोठडिया, ब्र. कु. स्मिताजी और मैं हम तीनों भी बड़भागी ही हैं। हमें ऐसा बनने का सुअवसर कब मिल जाय?

परसों चर्चा निकली थी, आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के समय कौन-कौन अन्य मुनि थे जो कि दीक्षित नाम के साथ-साथ गृहस्थावस्था के नाम से भी लोकव्यवहार में परिचित थे।

एक अंकलीकर आदिसागर जो शिवगोंडा स्वामी नाम से प्रसिद्ध थे। उदगांव में उनकी समाधि हुई। प्रायः वास्तव्य भी वहाँ ही होता था। एक आहार, एक उपवास का उनका नियम था।

एक आदिसागर जो बोरगांवकर, जिन्नाप्पा स्वामी नाम से परिचित थे। वे सात दिन के बाद आहार लेते थे। बोरगांव में ही प्रायः आपका वास्तव्य रहता था। इन्हें ही अपने कंधे पर बिठाकर गृहस्थावस्था में शांतिसागर महाराज दूधगंगा और वेदगंगा नदियाँ पार कराते थे।

एक आदिसागर भोसे नाम के देहात के थे, भोसगी स्वामी नाम से प्रसिद्ध थे।

एक भोजवाले आदिसागर भी थे जो रत्नाप्पा स्वामी नाम से परिचित थे।

शांतिसागर महाराज सातगौंडा स्वामी नाम से प्रसिद्ध थे। अंकलीकर आदिसागर या अन्य किसी भी आदिसागर को आचार्यपद नहीं था। तत्कालीन एकमेव आचार्य श्री शांतिसागर महाराज थे जिन्हें कि समडोली ग्राम से चतुर्विध संघ ने आचार्यपद दिया था।

उदगांव में अंकलीकर आदिसागर की समाधि यमसल्लेखना के तेरहवें दिन हुई, उस समय उनसे ही एक माह के दीक्षित श्री महावीरकीर्ति वहाँ थे लेकिन नूतन आगत होने से महावीरकीर्ति को या उनका (महावीरकीर्ति का) अभिनंदन ग्रंथ निकालने वालों को सब सच्चाई मालूम ही नहीं होगी। इसलिए अभिनंदन ग्रंथ में अंकलीकर आदिसागर जी के बारे में जो कुछ लिखा हुआ है, वह अंकलीकर और बोरगांवकर दोनों का मिश्र परिचय एक के नाम पर लगाया है अतः गलत है।

अंकलीकर आदिसागर की समाधि के समय पर शांतिसागर महाराज उपस्थित थे और अजितमती माताजी भी थीं। क्षपक आदिसागर की लाश जल रही थी, उसी दिन, उसी समय बोरगांवकर आदिसागर वहाँ आये थे। उनके बदन पर अत्यधिक उष्णता के कारण फोले आये थे और उनमें पानी गलता था। तीसरे दिन ही उनकी समाधि हुई।

अजितमती माताजी ने कहा है, ''हम वहाँ विद्यमान थे। अंकलीकर आदिसागर एक दिन बाद आहार करते थे और उन्हें आचार्यपद नहीं था। न वे शांतिसागर के मुनिदीक्षा के गुरु हैं। पंचकल्याणक के समय नांद्रे गांव के यल्लाप्पा शास्त्री श्री शांतिसागर महाराज को 'सिरि भूवलय' ग्रंथ दिखलाने आये थे। उस समय उन्होंने महाराज को कहा था, 'एक सौ पाँच बरस की उम्र में आप के दीक्षागुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति की समाधि हुई। उस समय अंकलीकर आदिसागर तो विद्यमान थे अर्थात् यह वार्ता देवेन्द्रकीर्ति संबंधी थी। यह वार्तालाप भी मेरे समक्ष ही हुआ है। आदिसागर को एक दिन बाद/एक दिन बाद आहार देने वाले सांगली के लक्ष्मण आरवाडे सांगली से उदगाँव जाकर आहार देते थे। उनकी भाभी सरस्वतीबाई आरवाडे अभी जीवित है। तीसरा व्यक्ति संघस्थ क्षु. सरस्वती माताजी 82 उमर वाली है और चौथे यरनाल के पाटील जो कि बाहुबली में रहते हैं। उनका नाम सन्नाप्पा है।

अर्थात् यह सब आँखों देखा हाल कहने वाले हम चार व्यक्ति जीवित हैं।''

शेष सब कुशल।

हम तीनों का आपके चरणारविन्द में बार-बार वंदामि विदित हो।

नम्र,

ब्र. कु. रेवती दोशी

(चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी के प्रति अनेक विद्वानों के संस्मरण में से एक विद्वान का संस्मरण)

मेरी स्मृति कुंज में

—जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

इस युग के महान् संत श्री 108 आचार्य शांतिसागर जी के पुण्य जीवन की कुछ घड़ियाँ इस व्यक्ति के जीवन के साथ भी संबंध रखती हैं। इस प्रकरण में उन्हीं घटनाओं के कुछ उल्लेख निम्न प्रकार हैं–

सन् 1927 में आचार्यश्री ने परम पूज्य सम्मेदशिखर तीर्थराज की यात्रा की थी। यह यात्रा श्री संघपति घासीलाल, पूनमचंद जी मुम्बई वालों द्वारा निकाले गये श्रावक संघ के साथ उनकी प्रार्थना पर आचार्य संघ ने की थी। हजारों श्रावकों के उस पैदल संघ के साथ संयमी मुनिराज 3 थे, 6 क्षुल्लक-ऐलक थे।

उस समय 'जातिप्रबोध' नामक पत्र में संघ के विरुद्ध आलोचनात्मक लेख निकले थे। उन्हें पढ़कर मुझे भी ऐसा लगा कि मुनि संघ की क्रियाएँ आगमानुकूल नहीं हैं। यात्रार्थ रेलमार्ग से मैं भी शिखरजी गया था, कारण यह कि संघपति महोदय की ओर से उस समय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा बड़े समारोह से हो रही थी, लाखों जैन बंधु वहाँ पहुँच रहे थे। उस आनन्द का लोभ संवरण मैं भी न कर सका।

विशाल पांडाल था, जिसमें 50 हजार आदमी एक साथ बैठ सकें। मुनि संघ के साधुगण बीच में स्थान-स्थान पर खड़े होकर उपदेश देते थे। लाउडस्पीकरों का उस समय प्रचलन नहीं था। लाखों व्यक्ति लाभ उठा रहे थे, पर इस नगण्य के मानस पटल पर "जातिप्रबोधक" की पंक्तियाँ नाच रही थीं। एक सप्ताह से अधिक समय तक वहाँ रहने पर भी मैं अपने विपरीत परिणाम के फलस्वरूप न तो संघ की वंदना कर सका और न उपदेश का लाभ ले सका। उस पांडाल के आसपास तमाशबीन होकर समवसरण के आसपास फिरने वाले 363 कुवादी मिथ्यादृष्टियों की तरह चक्कर लगाता रहा।

घर लौटने पर कुछ महीनों बाद समाचार मिला कि मुनिसंघ व श्रावक संघ इलाहाबाद आ चुका था। चातुर्मास के लिए समय थोड़ा शेष था। इलाहाबाद में कानपुर, लखनऊ, आगरा, देहली, बनारस की जैन समाज के प्रमुख सज्जन उस समय महाराजश्री से अपने-अपने नगरों में चातुर्मास करने की प्रार्थना कर

रहे थे। कटनी के स्व. श्री हुकमचंद जी भी दैववशात् वहाँ किसी अन्य कार्य से पहुँच गये थे। सबको देख उन्होंने भी कह डाला कि महाराज चातुर्मास कटनी करें। वे जानते थे कि इतने बड़े-बड़े लोगों की प्रार्थना के आगे हमारे अकेले की बात कौन सुनेगा? पर कहने में क्या हानि है?

आचार्यश्री के निर्णय की बड़ी आशा और उत्सुकता से लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने चातुर्मास के लिए बचे दिनों की और स्थानों के माईलेज की गणना की। कुछ स्थान पास थे और कुछ अत्यधिक दूर, अतः उन्होंने कटनी के चातुर्मास की घोषणा कर दी।

स्व. भाई हुकमचंद जी बहुत घबड़ाए और हर्षित भी हुए। वे सोचने लगे कि इतने बड़े समुदाय की प्रार्थनाएँ बेकार हुईं और हमारी प्रार्थना जिसका कोई दूसरा समर्थक भी साथ नहीं था, स्वीकृत हुई, इस बात का तो परमहर्ष था, पर हमने न तो अभी अपने नगर की पंचायत से अनुमति ली और न अब तक वहाँ कोई चर्चा है। अचानक यह चर्चा पंचायत के सामने रखने पर न जाने पंचायत इन आगामी 5 माह के (लोंद मास था) चातुर्मास में होने वाले संघ के व्ययभार तथा स्थानादि की व्यवस्था का भार संभालने की बात अपनी असमर्थता को देखते हुए स्वीकार करेगी या नहीं? उस समय क्या होगा?

वे शीघ्र कटनी आए, पंचायत हुई। पंचायत ने तो अपनी असामर्थ्य देखकर तथा मेरे द्वारा किये गये अश्रद्धामूलक विरोध को पाकर तार द्वारा अस्वीकृति संघपति को इलाहाबाद भेजी। तार जवाबी था, पर उत्तर न आया। पत्र भी दिया पर जवाब न आया। दुबारा जवाबी तार दिया, उत्तर न आया, तब पंचायत ने 2 व्यक्ति इलाहाबाद भेजकर इस आमंत्रण को लौटाने का निर्णय किया।

भाग्य से यह कार्य मुझे तथा मेरे साथ पं. गुलजारीलाल जी को सौंपा गया। हम दोनों इलाहाबाद पहुँचे। धर्मशाला में पहुँचते ही सामान रख नहीं पाये थे कि कुछ आदमियों ने हमारा परिचय पूछा। जब उन्हें बताया गया कि हम दोनों कटनी से आये हैं तो लोगों ने हम दोनों को उचंगा उठा लिया और कहने लगे धन्य भाग्य हैं आप लोगों के! आप संघ को लेने को पधारे हैं। भाई क्यों न हो भाग्यवान जीव ही तो यह लाभ पा सकते थे। हम लोग तो भाग्यहीन हैं, इत्यादि-इत्यादि। हम हतप्रभ हो गए। ये क्या कर रहे हैं और हम क्या कार्यक्रम लेकर आए हैं। इनके सन्मुख अपना अभिप्राय क्या कहें? मालूम हुआ कि कल संघ कटनी तरफ के मार्ग की ओर रवाना हो चुका है और 8 मील पर ठहरा हुआ है, वहाँ आहार है।

स्नानादि और देवदर्शन कर श्रावकों द्वारा कराया गया नाश्ता आदि करके हम श्रावकों सहित मोटर से उस स्थान पर पहुँचे जहाँ संघ ठहरा था। पहुँचने पर देखा साधुसंघ आहार को निकल पड़ा है। सब आहार देखते रहे, हम दोनों इस विपत्ति से छुटकारा पाने की योजना बनाते रहे। आहार की समाप्ति पर संघ अपने स्थान गया। हजारों श्रावक उनके साथ उस पांडाल तक गये। हम दोनों आग्रह किये जाने पर भी उन श्रावकों के साथ नहीं गये।

हम संघपति के डेरे में गये। उन्होंने परिचय पाकर अत्यन्त स्वागत किया। भोजन का आग्रह किया। भोजन तो करना था अतः उसे स्वीकृत करके भी पहले निमंत्रण लौटाने की बात करनी थी। एकांत में बात करने की प्रार्थना की और एकान्त हो गया। बड़े-बड़े झूठे बहाने किये ताकि संघ लौट जाये और इज्जत भी हमारी रह जाये। पर संघपति के तर्कपूर्ण व भक्तिमूलक उत्तरों के सामने हमारी न चली। तारों व पत्रों के जवाब न मिलने की शिकायत की, तो उत्तर मिला कि हम लोगों ने समझा कि नगर में कोई विरोधी की यह करामात है जिसने पंचायत के नाम से तार दे दिया होगा अतः उपेक्षा कर इस तरफ संघ ने प्रयाण किया।

हमें स्पष्ट शब्दों में विरोध प्रकट करने के सिवाय कोई मार्ग नहीं रह गया। मेरे विरोध की स्पष्टता को आंकते हुए संघपति जी को घोर आश्चर्य हुआ, वे अवाक् हो गये। उन्हें ऐसी आशा न थी। सम्हलकर थोड़ी देर बाद बोले कि अब संघ चल चुका है, पीछे न जायेगा। आपका निमंत्रण लौटा लिया गया, संघ का चातुर्मास मार्ग में कहीं किसी अन्य नगर में हो जायेगा। मैंने कहा कि हमारे प्रांत में यह संयम नहीं है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि जंगल में टीन के टपरे डालकर हम चातुर्मास कर लेंगे, पर संघ अब वापिस न जायेगा।

हम हतप्रभ हो कटनी लौट आए। पंचायत में उक्त समस्या रखी। पंचायत ने भी आने वाली इस अप्रत्याशित घटना के मुकाबले की तैयारी की, चंदा हुआ, स्थानों की व्यवस्था बनाई गई। इस प्रदेश में प्रथम चातुर्मास था। संघपति का लवाजमा बड़ा था, पांच मास में आने जाने वाले श्रावकों की संख्या भी 10-20 हजार होगी, यह सब विचार कर व्यवस्था करना शक्ति के बाहर दिखा। पर अब उपाय क्या? वह तो करना ही पड़ेगा, किया गया। सारा नगर कार्यव्यस्त हो गया, उमंगें बढ़ने लगीं, पर मुझ भाग्यहीन का चित्त उदास था।

सोचा, खुफिया तौर पर संघ के साथ एक सप्ताह रहकर उनकी गतिविधि

देखी जाये और फिर समाज के सामने उनकी यथार्थ स्थिति रखी जाये तो समाज इस काम से विरत होगी। घर से चुपचाप चल दिया। मार्ग से रीवां के आगे जाकर संघ के साथ हो लिया। भाग्य से संघपति मुंबई चले गये थे अतः पहचानने वाला संघ में कोई न था।

मुनिसंघ की चर्या देखने तथा गुण-दोष परखने का ही प्रमुख काम था। जैसे-जैसे दोषों की खोज करता था, वहाँ वैसे-वैसे गुण नजर आते थे। एक सप्ताह में जब पूरा विश्वास हो गया कि अखबारों के आधार पर हमने अपनी धारणाएँ गलत बनाई थीं, संघ तो परम निर्दोष है, तब एक दिन वंदना की। इसके पूर्व कभी उनकी वंदना नहीं की थी और रेलमार्ग पकड़ घर लौट आया। लोग आश्चर्यान्वित थे कि ये कहाँ चले गये थे? सबका आश्चर्य दूर हुआ और सब आनंद विभोर हो गये। जब मैंने अपनी इस खुफिया यात्रा का विवरण सुनाया और यह बताया कि संघ के सभी साधु उत्कृष्ट चारित्र वाले अनुपम तपस्वी हैं।

उत्साह की लहर भर गई और बड़े समारोहपूर्वक संघ का स्वागत हुआ तथा अभूतपूर्व चातुर्मास हुआ कि लोग आज भी उसका पुण्य स्मरण करते नहीं अघोत

हजारों यात्रियों का प्रतिदिन आगमन भक्ति-श्रद्धा-सुमन-धर्मोपदेश, आहार, दर्शन-आदि सभी धार्मिक प्रक्रियाएँ बड़े उल्लास के साथ सम्पन्न हो रही थीं। चातुर्मास 5।। माह का हुआ। कब समय निकल गया पता नहीं।

पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी, स्व. सरसेठ हुकमचंद जी, बैरिस्टर चम्पतराय जी आदि प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् व धीमान् इस मध्यकाल में कटनी पधारे।

कितने उत्साह में, कितने उल्लास में, कितनी धार्मिक भावना व उसके पुण्य वातावरण में यह चातुर्मास पूर्ण हुआ, यह अभूतपूर्व आनन्द लेखनी से बाहर था।

इसी चातुर्मास के पुण्यावसर पर इस अधर्म की विपरीत धारणाएँ समाप्त हुईं। घोर विरोध के भाव रहने पर, विपरीतता भेजने पर भी उत्तम होनहार, पूर्ण सौभाग्य अलग किलकिला रहा था और वह सामने आया। इन दिनों संघ के सानिध्य में उत्तम स्वाध्याय हुआ, ज्ञान प्रगति के साथ आचार्यश्री ने मुझे व्रत देकर पवित्र किया और मेरा जीवन सफल हो गया।

(जन्म शताब्दी महोत्सव, स्मृतिग्रंथ से साभार)

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज और मुनिराज श्री आदिसागरजी (अंकलीकर) महाराज

–भरतकुमार काला, मुम्बई (सह-सम्पादक)

दिगम्बर जैन समाज का 104 वर्ष पुराना 'जैन मित्र' सूरत के 26वें वर्ष का गुरुवार, आषाढ़ सुदी 11, वीर नि. 2451 ता. 2 जुलाई 1925, अंक 33 के प्रथम पृष्ठ पर प्रथम कॉलम से दूसरे कॉलम तक 'जैन समाचारावलि' स्तंभ से नीचे मुख्य समाचार छपा हुआ है–

मुनि व त्यागियों के समाचार

आचार्य श्री शांतिसागरजी तथा आपके संघ का चातुर्मास कुंभोज (कोल्हापुर) में हुआ है। यह स्थान हातकलंगड़ा स्टेशन से 6 मील है। मोटर-गाड़ी आदि सवारी मिलती है। यहाँ जैनियों के करीब 290-300 घर हैं। सब प्रकार की अच्छी व्यवस्था है। आचार्य श्री शांतिसागर जी के साथ आपका निम्न संघ भी है।

मुनि आदिसागर महाराज (अंकलीकर), मुनि नेमिसागर महाराज (कुडचीकर), मुनि वीरसागर महाराज (नांदगांव), मुनि नेमिसागर महाराज (पुनुर मद्रास) (यह नाम पढ़ने को नहीं आ रहा है-झिरॉक्स प्रतिलिपि होने से)

दूसरे कॉलम में

आर्यिका ताराबाई व रत्नाबाई (नांदणी), क्षुल्लक पायसागर महाराज (एनापुर)

इसके बाद और भी मुनि, त्यागियों के चातुर्मास के उल्लेख हैं। इनमें उल्लेखनीय मुनि श्री शांतिसागर जी (छाणी)-ललितपुर।

उपर्युक्त समाचार से यह बात आकाश की तरह स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान में जिन पूज्य मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) को बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य के रूप में येन-केन प्रकारेण मंडित किया गया है, वे मुनिराज कम से कम 1925 तक तो मात्र मुनिपद में थे और आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के संघ में कुंभोज में सन् 1925 में मुनि पद में विराजमान थे, आचार्य नहीं थे, बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य तो दूर की बात है।

इस समाचार में आचार्य श्री शांतिसागर जी के साथ अन्य संघ के भी नाम निर्देशित किये गये हैं जो कि जैन गजट में दर्शित चित्र से देख सकते हैं। इसमें

सर्वप्रथम जिन मुनि आदिसागर महाराज (अंकलीकर) का उल्लेख है, उनको ही बीसवीं सदी का प्रथमाचार्य बताया जा रहा है।

इस समाचार से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पूर्व और कोई भी मुनि आचार्य पद से न तो भूषित थे, न मंडित थे। समाचारों से यह बात भी मालूम हो जाती है कि मुनि श्री शांतिसागर जी छाणी वाले भी तब तक तो मुनिपद पर ही थे-आचार्य नहीं। जैन मित्र के सम्पादक के रूप में, उस समय जैन धर्मभूषण धर्म दिवाकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी एवं प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, छपा हुआ है।

मुझे उदगांव में पूज्य मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर की समाधिस्थल के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। उस समय चरण पादुका के पत्थर पर बाजू में सामने श्री 108 आदिसागर जी (अंकलीकर) ऐसा नाम अंकित मैंने देखा है। बाजू में और एक चरण है। कुछ समय बाद फिर से दर्शन का अवसर आया, तो उस पर श्री के आगे 'आ.' ऐसा अक्षर अंकन किया गया पाया था जो पहिले के अक्षरों से एकदम भिन्न एवं बड़ा था। इसके कुछ वर्ष बाद मैंने पाया कि वह 'आ.' अक्षर मिटा दिया गया है।

जो भी हो, इस चरण पादुका के ऊपर उकेरित अक्षरों से भी यह बात स्पष्ट है कि वे समाधिमरण तक भी आचार्य पद से भूषित नहीं थे।

सन् 1981 में परमपूज्य आचार्य श्री 108 सन्मतिसागर जी महाराज का वर्षायोग से पूर्व नागपुर में दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा का भव्य अधिवेशन लाडपुरा में श्री दिगम्बर जैन मंदिर में आयोजित था। पूज्य आचार्य श्री संघ सहित विराजमान थे। उनकी उपवास की खड़तर तपस्या का अनन्य प्रभाव था। महासभा अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार जी सेठी, तत्कालीन महामंत्री श्री त्रिलोकचंद जी कोठारी, कोटा भी पधारे हुए थे। प्रान्तीय स्तर पर महासभा के गठन के कार्यक्रम में महाराष्ट्र के गठन का शुभारंभ यहाँ से होने को था। अधिवेशन भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ था। यहाँ अधिवेशन में सज्जातित्व को लेकर बड़ा ही ऊहापोह हुआ था। चूँकि आचार्यश्री द्वारा विजातीय एवं विधवा विवाह करने वाले या समर्थकों से आहार न लेने के कारण यहाँ उसकी चर्चा थी। श्री सेठी जी ने बड़े ही सूझबूझ के साथ सज्जातित्व का प्रबल प्रभावी समर्थन किया था एवं विधवा विवाह व्यवस्था का तर्कसंगत विरोध किया था तथा समाधान भी

किया था। श्री सेठीजी के जीवन की दृढ़ता का सर्वप्रथम यहाँ दर्शन हो आया था।

इस स्थान पर मुझे पूरा स्मरण है कि पूज्य मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज का नाम तक नहीं सुना था एवं कोई जाहिर उच्चारण भी नहीं था। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के नाम का उच्चारण तो बार-बार किया गया। पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का अवश्य स्मरण किया गया था। आचार्यश्री के आशीर्वाद से ही मुझे प्रथम बार पर्यूषण महापर्व में नागपुर में प्रवचन हेतु जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह मेरे लिए पहला अवसर था। इसी समय फिरोजाबाद से स्व. पं. श्री श्यामसुन्दरलाल जी भी यहाँ लाडपुरा में आमंत्रित थे, मैं परवारपुरा में आमंत्रित था। बचपन से स्व. आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के चरणों में आने का सौभाग्य मिलने से इनके संघस्थ सभी साधु और आर्यिकाओं के प्रति मेरे मन में अगाढ़ श्रद्धा एवं आस्था रही है। पूज्य आचार्य श्री के सानिध्य में स्व. आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी के साथ हमारे नांदगांव में महीनों तक आने का सौभाग्य मिला है। दाहोद में भी इनके दर्शन का सौभाग्य मिला था, उस समय स्व. बाबाजी श्री सूरजमल जी भी साथ में थे। मैंने देखा है तब तक कभी भी कहीं भी पूज्य मुनिराज आदिसागर जी के संबंध में कोई आदान-प्रदान या चर्चा सुनने को नहीं मिली है। पूज्य मुनिराज आदिसागर जी की चर्चा का सूत्रपात 1988/1990 के आसपास और वह भी इन्हीं आचार्य श्री के द्वारा ही शुरू की गई है। वह क्यों और क्यूँ? यह वे ही जानें।

इसी के बाद पूज्य मुनिराज आदिसागर जी (अंकलीकर) आचार्य, प्रथमाचार्य और चारित्र चक्रवर्ती के रूप में मंडित होने लगे।

वर्तमान में परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज, परमपूज्य स्व. आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के सर्वप्रथम क्षुल्लक दीक्षित साधु हैं। मुनि दीक्षा स्व. आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से ली है। इनके चरणों में अनेकों बार मुझे समय-समय पर आने का सौभाग्य मिला है, मिलता है। पर आज तक भी मैंने कभी उनसे पूज्य मुनिराज आदिसागर जी के व्यक्तित्व के संबंध में कुछ भी कहते नहीं सुना है। हाँ, स्व. आचार्य श्री शांतिसागर जी का गुणगान करते हुए अवश्य देखा है। स्व. आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज के अनन्य शिष्य प्रभावी संत स्व. आचार्य विमलसागर जी महाराज के चरण सानिध्य का भी सुअवसर मिलता रहता है, पर कभी पूज्य मुनिराज

श्री आदिसागर जी की चर्चा नहीं सुनी है।

जब से, जहाँ से स्व. मुनिराज श्री आदिसागर जी की चर्चा चलाई गई है, तब से लेकर आज तक के किसी पूज्य मुनिराज या श्रावक या विद्वानों में से किसी ने स्व. पूज्य आदिसागर जी को देखा हो, या दर्शन किये हों, ऐसा नहीं लगता।

जो भी मुनिपद में हैं, थे, वे हमारे लिए परम वंदनीय हैं। श्रद्धा व भक्ति के आधार। जैन मित्र में छपे समाचार से यह बात सर्वसिद्ध है कि श्री आचार्य शांतिसागर जी महाराज ही सर्वप्रथम आचार्य के रूप में बीसवीं सदी में मंडित हुए हैं। दिगम्बरत्व का प्रचार और प्रसार तथा सुरक्षा एवं स्वतंत्र धर्म की मान्यता दिलाना यह उनका समाज पर महान उपकार है।

हमारे पिता समाजभूषण विद्वान् पंडित स्व. तेजपाल जी काला पर तो आचार्य स्व. श्री महावीरकीर्ति जी महाराज की बड़ी अनुकम्पा थी। स्व. पिता श्री जब अत्यधिक अस्वस्थ थे, तब पूज्य आचार्य श्री ससंघ कुंथलगिरि से पद विहार द्वारा विशेष रूप से नांदगांव आये थे और स्व. पिताश्री के स्वास्थ्य को सुधारा था। ऐसे संत के साथ पदविहार में चलने का तथा उनके चरणों में रहने का सौभाग्य मुझे भी मिला है। ऐसे आचार्यश्री का आज भी स्मरण हो आता है, तो आँखें भर आती हैं, उनका भी समाज पर अनंत उपकार है।

(जैन गजट, 14 अगस्त 2003 से साभार)

जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था

पच्चीस साल का अहवाल (विवरण)

(शांतिसागर स्मृति ग्रंथ से साभार)

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री 108 आचार्यवर्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था का पच्चीस साल का यह अहवाल समाज को प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता होती है। संस्था की मूल प्रेरक शक्ति परम पूज्य प्रातःस्मरणीय श्री 108 आचार्य शांतिसागर महाराज ही थे। भारतीय जैन-अजैन जनता परमपूज्य महाराजश्री के जीवन से भलीभांति परिचित है। भाद्रपद सुदी 2को उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् समाज को जो क्षति पहुँची, उसकी पूर्ति असंभव है।

वि. संवत् 2000-2001 वीर निर्वाण संवत् 2470-71 में संस्था की स्थापना हुई। यह पच्चीस बरस का काल दिगम्बर जैन समाज के इतिहास में महत्त्वपूर्ण तथा संस्मरणीय रहा। वर्तमान पंचम काल के चालू तीन-चार शतकों में दिगम्बर जैन साधु की परंपरा खंडितप्राय थी। उसको आगमानुकूल पुनरुज्जीवित करने का श्रेय आचार्यश्री को है। साधु का जीवन यथार्थ में अंतर्मुख दृष्टिसंपन्न होता है। बाहर के कार्यों में उनका कुछ लगाव या आसक्ति नहीं होती। अप्राकरणिक रूप में जो शुभभावरूप क्रिया बन जाती है, उससे ही समाज की सांस्कृतिक धारणा बनती है। समीचीन दिगम्बरत्व का पुनरुज्जीवन, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिविहार, भारतीय जैन समाज के अपने स्वतंत्र अस्तित्व तथा धार्मिक अधिकारों की रक्षा, श्रुतप्रकाशन, सनातन दिगम्बरत्व के ऊपर होने वाले आक्रमण का प्रतिकार, कुप्रथाओं का निर्दलन आदि जो चिरस्थायी तथा ऐतिहासिक कार्य इस समय में हुए, उसमें उनकी सहज प्रेरणा थी। ऐसे महात्मा के आशीर्वाद से जो सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्य उनके जीवन में हुआ तथा उनके पश्चात् उनकी पुण्यस्मृति में अभी भी बोरिवली आदि स्थानों पर जो धर्मकार्य हुए, उनको समाज कभी भी भूल नहीं सकेगी। परम पावन सर्वतोभद्र जिनागम के रक्षणार्थ श्री 108 आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था उनकी ही प्रेरणा और आशीर्वाद से वि. सं. 2001 में स्थापित हुई। महाराज श्री के जीवनकाल में उनके आशीर्वाद से जो संस्थाएँ स्थापित हुईं, उनमें इस संस्था का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में संस्था ने काफी मात्रा में सफलता प्राप्त की है।

वीरवाणी से साक्षात् संबंधित धवला, जयधवला, महाधवला सिद्धान्तग्रंथ ताडपत्रों में लिखितरूप में मूडबिद्री में विराजमान हैं, यह सबको विदित है। वहाँ श्री धवला की ताडपत्र की दो पूर्ण और एक अपूर्ण तथा श्रीजयधवला की एक तथा महाधवला की (महाबंध) ताडपत्र की एक प्रति थी। उपरोक्त तीनों ग्रंथ ताडपत्रों पर लिखित हैं। श्री आचार्य पुष्पदंत-भूतबलि, गणधर यतिवृषभ आदि आचार्यों के मूलसूत्र तथा चूर्णिसूत्र तथा उनके ऊपर आचार्य वीरसेन तथा जिनसेन स्वामी की धवलादि टीका पुरानी कन्नड़ लिपि में लिखी हुई है। भाषा प्राकृत तथा संस्कृत है। वे जीर्ण-शीर्ण होती जा रही हैं। उनमें से महाबंध का करीब चार-पाँच हजार श्लोकप्रमाण हिस्सा कीटकों द्वारा नष्ट हुआ है। अवशिष्ट भाग भी कृमिकीटकों का भक्ष्य बनेगा, तो सिद्धान्तग्रंथ नष्टप्राय हो जावेंगे।

परम पूज्य 108 आचार्यश्री वि.सं. 2000 के चौमासे में कुंथलगिरी क्षेत्र पर विराजमान थे। वहाँ पर उन्हें मूडबिद्री में विराजमान धवलादि सिद्धान्तग्रंथों की जराजीर्ण स्थिति की जो जानकारी मिली, उससे वे अत्यन्त चिंतित हुए। उस क्षेत्र (1) पूज्य 105 भट्टारक जिनसेन-कोल्हापुर के मठाधीश, (2) श्री दानवीर संघपति सेठ गेंदनमलजी, मुंबई (4) श्री गुरुभक्त सेठ चंदूलाल ज्योतिचंद सर्राफ, बारामती और (4) श्री दानवीर रामचंद्र धनजी दावडा, नातेपुते तथा वहाँ उपस्थित धर्मानुरागी श्रावकों के सन्मुख पूज्यवर आचार्य महाराज ने आगमरक्षा की अपनी अंतरंग व्यथा सुनाई। महाराजश्री के उपदेश तथा आदेश से प्रेरित होकर उस कार्य की पूर्ति करने का संकल्प किया तथापि ऐसे महान पुण्यकार्य में सब दिगंबर जैन समाज सहभागी हो, इस मंगल भावना से महाराजश्री के उपदेश और आदेश से उसी समय लगभग एक लाख रुपये के दान की स्वीकृति प्राप्त हुई तथा कार्य की रूपरेखा निश्चित करने के हेतु एक अस्थायी कमेटी नियुक्त कीगई।

उपरोक्त सिद्धांत ग्रंथ ताम्रपत्रों पर खुदवाकर उनकी सुरक्षा का स्थायी प्रबंध हो, ऐसी आचार्य महाराज की आंतरिक इच्छा थी। प्रथम हस्तकारीगरों से ताम्रपत्रों पर अक्षर खुदवाने का प्रयास किया गया परन्तु इसमें (1) अशुद्धता का अधिकतर संभव होना (2) अति कष्ट (3) खर्च की बहुलता तथा (4) कार्यपूर्ति में अतिविलंब आदि त्रुटियाँ अनुभव में आईं। श्री बालचंद देवचंद शहा मुंबई वालों ने इस कार्य की पूर्ति रासायनिक प्रक्रिया से होनी चाहिए, इससे यह कार्य अच्छी तरह से और शीघ्रता से पूरा हो सकेगा, ऐसा सुझाव सामने रखा जो कि तत्काल सर्वसम्मत हुआ तथा श्री पूज्य समंतभद्र महाराज के सूचनानुसार सेठ बालचंद

जी को मंत्रीपद देने का आदेश महाराजश्री ने देकर यह ताम्रपट्ट बनाने का कार्यभार उन्हीं को सौंपा।

वि.सं. 2001 फाल्गुन वदी 2 के दिन जब पूज्य आचार्य महाराज बारामती के गुरुभक्त सेठ चंदूलाल जी सर्राफ के बगीचे में विराजमान थे, उसी समय समाज के अन्य श्रीमान मान्यवर श्रावक तथा पं. खूबचंदजी, पं. मक्खनलाल जी आदि विद्वज्जनों की सभा में 1. श्रीधवला, श्रीजयधवला, श्रीमहाधवला आदि सिद्धान्त ग्रंथ संशोधनपूर्वक देवनागरी लिपि में ताम्रपत्र पर अंकित करके उनकी स्थायी रक्षा का प्रबंध करना तथा 2. अन्य आचार्यों के ग्रंथों का जीर्णोद्धार के साथ उनका स्वाध्याय के लिए निःशुल्क वितरण करना, इन दो प्रधान उद्देश्यों से "श्री 108 चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था" की स्थापना की गई। उपरिनिर्दिष्ट कार्य के लिए 1000 रु. या अधिक दान देने वाले संस्था के सदस्य हों, ऐसी योजना बनाई गई। कार्यपद्धति भी निश्चित हुई। सर्वप्रथम बटरपेपर पर ग्रंथ छपवाकर रासायनिक प्रक्रिया से ताम्रपत्र पर अंकित करवाना तथा मूल ग्रंथ की पांच-पांच सौ प्रतियाँ छपवाना, एक मुद्रित प्रति 1000 रु. या अधिक देने वाले दातारों को भेंटरूप में देना, तीर्थक्षेत्रों पर एक-एक प्रति रखना, ऐसा महाराज श्री के आदेशानुसार निर्णय हुआ।

कानून के अनुसार संस्था रजिस्टर्ड करने के लिए समिति का गठन हुआ। समिति में श्री बालचंद देवचंद, श्री बालचंद देवीदास चवरे, वकील-अकोला तथा श्री माधवराव लेले, वकील-सोलापुर सदस्य थे। एकमत से संस्था की नियमावली तैयार की गई तथा सोसायटीज रजिस्ट्रेशन ॲक्ट 21-1860 के अनुसार संस्था का दिनाँक 25-5-1945 को अ.नं. 1372 में रजिस्ट्रेशन सम्पन्न हुआ।

सिद्धान्त ग्रंथ प्राचीन तथा महत्वपूर्ण होने से उनके ताम्रपत्र भी शुद्ध और साफ होना जरूरी था। उपरोक्त सिद्धान्त ग्रंथों में श्रीधवला 70000 श्लोक प्रमाण, जयधवला कषायपाहुड़ सहित 80000 श्लोक प्रमाण तथा महाधवला 40000 श्लोक प्रमाण है। उन्हीं ग्रंथों की एक हस्तलिखित प्रति पं. गजपती शास्त्रीजी ने बहुत दिन पहले मूडबिद्री से लाई थी और उसकी प्रतिलिपि सोलापुर में थी। ताम्रपट्ट का काम चालू करने के पूर्व सोलापुर के प्रतिलिपि का मूल ताडपत्र की प्राप्ति के साथ उक्त हस्तलिखित प्रति का मेल न बैठने के कारण ग्रंथ संशोधन में बहुत सी त्रुटियाँ रह गईं। दिन-प्रतिदिन मूल ताडपत्र जीर्ण होते जायेंगे तथा अगर वे ताडपत्र सुरक्षित रखने का समुचित प्रबंध न हो, तो उनका

दर्शन भी दुर्लभ हो जावेगा, इस हेतु से मूल ताडपत्रों के फोटो लेकर रखने का निर्णय हुआ। पूज्य आचार्यश्री के आदेश से ब्र. बोधिचंद्रजी मूडबिद्री गये और वहाँ से श्री चारूकीर्ति भट्टारक महाराज तथा विश्वस्तों से सम्मति प्राप्त की। पश्चात् ताडपत्र के फोटो (Negative) लिए गये। प्रथम बार ताडपत्र के फोटो 6"×2" साइज में लाए गए। इस महत्वपूर्ण कार्य में ब्र. बोधिचंद्र जी, श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी, वहाँ के ट्रस्टीगण, पं. लोकनाथ शास्त्री, पं. वर्धमान शास्त्री, सोलापुर, बंबई के झारापकर स्टूडियो के संचालक झारापकर बंधु आदि महाजनों का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ, यह धन्यवादपूर्वक साभार नमुद करना जरूरी है।

तदनंतर मूल कन्नड ताडपत्र ग्रंथराज की स्थायी सुरक्षा हो, इसलिए आचार्य महाराज ने मूल ताडपत्र का भी ताम्रपट्ट करने का आदेश दिया। इस कार्यपूर्ति के लिए फिर से मंत्री बालचंद देवचंद्र, पं. वर्धमान शास्त्री सोलापुर, झारापकर बंधु तथा उनके कर्मचारी स्टाफ मूडबिद्री गये। वहाँ पन्द्रह दिन ठहरकर धवला के तीन प्रति श्रीजयधवला तथा उसके बिना नंबर फटे हुए पन्नों के भी 15"× 12" साइज में फोटो लिए गए। उनमें से श्री धवला के प्रति का Positive करके 23" Enlarge किया। उसका ताम्रपत्र करने का कार्य शुरू हुआ किन्तु ताम्रपत्र पर ताडपत्र के अक्षर कोई स्पष्ट, कोई अस्पष्ट निकलने लगे। आधे-आधे भाग का भी ताम्रपट्ट करने का प्रयास किया किन्तु फोटो Enlarge करने पर भी अपेक्षित सफलता नहीं मिली। तब यह महान् कार्य स्थगित हुआ। तथापि फोटो के रूप में इसका अलभ्य संग्रह संस्था के पास है। वे ग्रंथ के पुनर्मुद्रण के समय उपयुक्त होते हैं। 1100 फोटो लिए गये और संस्था को उसका खर्च 11000 रु. आया। फोटो का कार्य समाप्त होते समय आचार्यश्री की मंत्री जी के नाम तार और पत्र से आज्ञा आई कि वहाँ से मैसूर जावे तथा कड़ी धूप, वर्षा, ठंडी, तूफान आदि के कारण श्रवणबेलगोला स्थित महामूर्ति पर छेद दिख रहे हैं, वैसा आगे न हो, इस कारण महामूर्ति पर छत्र करने की सरकार से अनुज्ञा प्राप्त करना तथा ख्यातनाम इंजीनियर से खर्चे का अंदाजा भी लाना। आदेशानुसार मंगलोर जाकर श्री नेमीसागर जी भट्टारक, वकील श्री जिनराजय्या के सलाह से, बेंगलोर के संस्कृत महाविद्यालय के प्रिसिंपल श्री धरणेन्द्रय्या के साथ रिटायर्ड रेव्हेन्यु कमिश्नर एम.सी. लक्ष्मीपती से चर्चा की। उन्होंने वर्तमान रेव्हेन्यू कमिश्नर मि. शेषाद्री, मैसूर सरकार के आर्किटेक्ट इंजीनियर एस. एस. लक्ष्मीनरसिय्या आदि सरकारी अफसरों से मिलने का सुझाव दिया, उनके साथ

विचार-विमर्श हुआ। इसमें पं. शांतिराज शास्त्री, श्री शांतिराजय्या, श्री चंद्रय्या, हेगडे बंधु इनका सहयोग मिला। 'मध्यवर्ती सरकार इसका इलाज करने वाली है, मूर्ति के ऊपर छत्र बनाने से मूर्ति के सब शरीर पर हवादिक की विषमता के कारण उसकी आयु घट जावेगी। यह कार्य महामूर्ति बनाने वालों की इच्छा के विरुद्ध होगा, मूर्ति चारों तरफ से खुली रहने से ही दीर्घकाल तक टिकेगी तथा सरकार आपको अनुमति नहीं देगी' ऐसा विचार-विमर्श होने से उसका समाचार महाराजश्री को भेजा गया। बाद में आच्छादन छत्र बनाने का विचार स्थगित हुआ।

वि.सं. 2001 में विद्यावाचस्पति पं. खूबचंद्र जी शास्त्री की जिम्मेदारी पर उनकी निगरानी में मुंबई के निर्णयसागर प्रेस में श्रीधवला ग्रंथ की छपाई का कार्य प्रारंभ हुआ। माननीय पंडितजी की सेवा बिना वेतन प्राप्त हुई। आधे से अधिक छपाई होने के उपरान्त छपाई तुरंत पूरी हो, इस दृष्टि से वि.सं. 2002 में सिद्धान्तशास्त्री पं. पन्नालालजी सोनी की देखभाल में सोलापुर के कल्याण प्रेस में उक्त कार्य म्ढ़े तीन वर्ष में पूरा हुआ। 2600 पन्नों के धवल ग्रंथ का संपादन, संशोधन, छपाई आदि के लिए 30000 रु. धनराशि खर्च हुई। श्रीधवला ग्रंथ की छपाई के साथ छपे हुए पृष्ठों के ताम्रपट्ट का कार्य उसी समय मुंबई के श्रीपाद प्रोसेस वर्क्स में चलता रहा। श्रीधवला के पत्रों के आकार के ताम्रपत्र बनाने में 21000 रुपये खर्च हुआ।

इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थों के जीर्णोद्धार की कल्पना आचार्य श्री के मन में स्फुरित होने के चार वर्ष बाद श्रीधवला का मुद्रण तथा ताम्रपट्ट का कार्य पूरा हुआ। संशोधित-मुद्रित प्रति व ताम्रपट्ट पूज्य आचार्य श्री को बड़े समारोह के साथ अर्पण करने का निश्चय हुआ किन्तु उस समय पूज्य आचार्य महाराज मुंबई सरकार को हरिजन मंदिर प्रवेश कानून में जैनधर्म और संस्कृति में विरोधी होने से, जैनधर्म की स्वतंत्रता के ऊपर आघात करने वाला होने से वह जैन समाज को लागू न हो, इस दृष्टि से आहारत्याग, जपजाप्यादि तपानुष्ठान में लगे हुए थे। इसलिए समारोह की कल्पना स्थगित करके वि.सं. 2006 में गजपंथाजी क्षेत्र के वार्षिक सभा के अवसर पर श्री सेठ संघपति गेंदनमलजी के करकमलों से भक्तिभाव से समर्पित किया गया।

सोलापुर की आबोहवा श्री पं. पन्नालाल जी सोनी के स्वास्थ्य के अनुकूल न होने से वे ब्यावर गये। वहाँ उनकी जिम्मेदारी पर जयधवला की छपाई का कार्य शुरू हुआ। वहाँ 1964 पृष्ठ छपने के बाद शेष 336 पृष्ठों का संशोधन पं. हीरालाल जी शास्त्री द्वारा कराके उसका मुद्रण बाहुबली में (कोल्हापुर)

सन्मति मुद्रणालय में पं. माणकचंद्र जी न्यायतीर्थ की देखभाल में हुआ। यह कार्य 2010 में पूरा हुआ।

श्रीमहाधवला की छपाई का कार्य पं. सुमेरचंद्र जी दिवाकर न्यायतीर्थ बी.ए., एल एल. बी. की जिम्मेदारी में सिवनी में प्रारंभ होकर संवत् 2020 में पूरा हुआ। माननीय पंडित महाशय ने धर्मबुद्धि से बिना पारिश्रमिक खूब कष्ट उठाकर कार्य संपन्न किया, इसलिए फलटण में आचार्य शांतिसागरजी की उपस्थिति में समाज ने 'धर्मदिवाकर' पदवी प्रदान कर उनको सम्मानित किया।

इस तरह इन धवलादि तीन सिद्धान्तग्रंथ की छपाई तथा ताम्रपट्ट बनवाने में करीब दस साल लगे। महाराजश्री की सल्लेखना के पूर्व ही इन ग्रंथों का ताम्रपट्ट रूप से जीर्णोद्धार का कार्य पूर्ण हुआ। इसमें पूज्यश्री को जैसा समाधान हुआ, वैसा संस्था को भी कर्तव्यपूर्ति का आनंद हुआ।

श्रीधवला के ताम्रपत्र तथा तीनों मुद्रित सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियाँ फलटण में श्री चंद्रप्रभु मंदिर के ऊपर ''आचार्य शांतिसागर श्रुतभंडार भवन'' के बड़े हॉल में रखे गये हैं। संस्था की तरफ से प्रकाशित अन्य जैन साहित्य भी वहाँ पर रखा है तथा श्रीजयधवला और श्रीमहाधवला के ताम्रपत्र मात्र संघपति सेठ गेंदनमलजी मुंबई के कालबादेवी दिगम्बर जैन मंदिर में विराजमान हैं। इसमें भी आचार्यश्री की आज्ञा प्रमाण है।

उसी समय ग्रंथ के सत्प्ररूपणा में सूत्र नं. 93 में **''संजदासंजछद''** की जगह द्रव्यस्त्रीवाचक **'संजद'** शब्द मूडबिद्री के ताडपत्र प्रति में प्रतिलिपि करने वाले की भूल से लिखा है अतः वह नये ताम्रपट्ट में से तथा मुद्रित प्रति में से निकालने का आदेश दिया और वह शिरोधार्य किया गया। इस **'संजद'** शब्द के कारण समाज में वाद तथा आंदोलन भी हुआ। फलस्वरूप मतभेद के कारण पं. खूबचंद्रजी ने कार्यभार का इस्तीफा दे दिया तथा पं. पन्नालालजी सोनी को भी मतभेद के कारण संस्था से अलग होना पड़ा। इन दोनों महानुभावों ने सिद्धांत ग्रंथों के संशोधन तथा मुद्रण शोधन की जिम्मेदारी उठाई थी। श्रीधवला का आधा काम पं. खूबचंद जी ने तथा धवला का शेष भाग और जयधवला पृष्ठ तक का कार्यभार पं. पन्नालालजी ने अच्छी तरह संभाला। संस्था उनके इस सेवा के लिए साभार कृतज्ञता प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानती है।

आचार्य महाराज गृहस्थ के कल्याण के लिए जिनबिंब प्रतिष्ठा, चैत्यालय निर्माण, पूजादि पुण्यकार्य का अधिकतर उपदेश देते थे। जैनसमाज में धर्मश्रद्धा

तो है किन्तु वह दृढ़मूल बनने में, स्थितिकरण में मुख्यसाधन जिनागम का स्वाध्याय मननादिक ही है। बिना स्वाध्याय धर्मश्रद्धान दृढ़ नहीं होगा और स्वाध्याय के लिए आगमग्रंथों की सुलभता होनी चाहिए। इस अभिप्राय से ज्ञानदान के हेतु स्वाध्याय प्रसार के लिए एक अभिनव योजना वि.सं. 2010 में फलटण नगरी में प्रस्तुत की। भाद्रपद वदी 5 के दिन फलटण में श्री 108 चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जीर्णोद्धारक संस्था प्रमाणित ''श्री श्रुतभंडार तथा ग्रंथप्रकाशन समिति'' नाम की संस्था आचार्यश्री के उपदेश और आदेश से स्थापित हुई। इसका प्रधान उद्देश्य यह था कि दिगम्बर जैन आर्षग्रंथों का प्रमाणित मुद्रण तथा प्रकाशन और उनका समाज के मंदिर आदि सार्वजनिक संस्था में निःशुल्क वितरण करना।

श्री दिगम्बर जैन महासभा की ओर से पूज्य महाराजजी का हीरकजयंती महोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया गया। उसके लिए समाज में काफी चंदा हुआ। खर्चा जाने के बाद बचत में से तथा संस्था द्वारा दी हुई ढाई हजार की मदद से श्रीचंद्रप्रभु मंदिर के सभामंडप के ऊपर एक ''श्रुतभंडार हॉल'' फलटण की दिगम्बर जैन समाज ने बनवाया। वहीं पर धवला का ताम्रपट्ट तथा धवलादि मुद्रित ग्रंथ रखे हैं। उसी समय प्राचीन आर्षग्रंथ का प्रचलित हिन्दी भाषा में सानुवाद प्रकाशन करके प्रत्येक गाँव के मंदिर में समस्त श्रावकों के स्वाध्यायप्रीत्यर्थ बिना मूल्य भेजने का कार्य 'ग्रंथ प्रकाशन समिति' को सौंपा गया। तब से समिति ग्रंथ प्रकाशन तथा ग्रंथ वितरण का कार्य अव्याहत रूप से करती आ रही है।

पूज्य आचार्यश्री के उपदेश से निम्नलिखित दातारों ने कागज के व्यतिरिक्त विशिष्ट ग्रंथ के प्रकाशन में जो खर्च आया, वह सब दानरूप से दिया है। दातारों ने ज्ञानावरण कर्म के क्षय का निमित्त तो प्राप्त किया ही, वे सब उक्त महान दान के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। जिसका विवरण–

दातारों के नाम	**ग्रंथ नाम**
1. श्री गंगाराम कामचंद दोशी, फलटण	श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार
2. श्री हीराचंद केवलचंद दोशी, फलटण	श्रीसमयसार आत्मख्याति
3. श्री शिवलाल माणिकचंद कोठारी, बुध	श्री सर्वार्थसिद्धि वचनिका
4. श्री गुलाबचंद जीवन गांधी, दहिवडी	श्री मूलाचार
5. श्री जीवराज खुशालचंद गांधी, मुंबई	श्री उत्तरपुराण
6. श्री चंदूलाल कस्तूरचंद शहा, मुंबई	श्री अनगारधर्मामृत

7. श्री पद्मण्णा धरणप्पा वैद्य, निमगांव	श्रीसागारधर्मामृत
8. श्री हीराचंद तिलकचंद, बारामती	श्री धवला
9. श्री बाबूराव भरमाप्पा ऐनापुरे, कुडची	श्रीजयधवला

उपरोक्त दातारों के उदारतापूर्ण दान के लिए संस्था आभारी है।

इनके अलावा संस्था ने पूर्ण खर्च से निम्न ग्रंथ प्रकाशित किए हैं।

10. श्री कुन्दकुन्दभारती	प्रकाशनाधीन
11. श्री अष्टपाहुड़	प्रकाशनाधीन
12. श्री श्रावकाचार संग्रह	प्रकाशनाधीन
13. श्रीआदिपुराण (जिनसेनाचार्य प्रणीत)	प्रकाशनाधीन

अन्य प्रकाशन का कार्य संस्था के ध्रुवनिधी का जो ब्याज मिलता है, उससे चलता है। ब्याज का उत्पन्न सालाना नौ या दस हजार का है। ध्रुवनिधि सरकारी बैंकों में Fixed Deposit के रूप में रखा है।

आचार्य महाराज ने परम पावन भगवती जिनदीक्षा ग्रहण करके आत्मोद्धार के साथ समीचीन दिगम्बर साधु परंपरा का पुनरुज्जीवन किया। उनके पवित्र और असाधारण व्यक्तित्व के कारण उनके उपदेश और आदेश से श्रीधवला, श्रीजयधवला तथा श्रीमहाधवला सिद्धान्त ग्रंथों के ताम्रपट्ट बनाकर उनकी स्थाई सुरक्षा की योजना कार्यान्वित हुई। प्राचीन आचार्यों के महान् ग्रंथों का प्रचलित हिंदी भाषा में अनुवाद होकर श्रावकों के स्वाध्याय के लिए जिनमंदिरों में उनका निःशुल्क वितरण हुआ। बृहन्मूर्ति की स्थापना से समस्त विश्व के सामने जैन संस्कृति का, वीतरागता का आदर्श उपस्थित हुआ। इस प्रकार यह समाज परम पूज्य आचार्यश्री का हमेशा कृतज्ञ रहेगा, जिसको प्रगट करने के लिए शब्द भी असमर्थ हैं।

संस्था का कार्य परम पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वाद से तथा समाज के सहयोग से, विद्वानों की सहायता से अविच्छिन्न-निराबाध चालू है। उन सब भाइयों और विद्वानों के लिए हृदय से आभार प्रदर्शित करके यह अहवाल समाप्त करता हूँ।

स्वस्ति श्री जिनसेन भट्टारक,	चंदूलाल तलकचंद शहा, वकील
(अध्यक्ष)	**(अध्यक्ष)**
श्री 108 आचार्य शांतिसागर	श्रुतभंडार तथा ग्रंथ प्रकाशन समिति
दिगम्बर जैन जीर्णोद्धारक संस्था	
बालचंद देवचंद शहा	मोतीलाल मलुकचंद दोशी
(मंत्री)	**(मंत्री)**

धवलादि ग्रंथों का ताम्रपत्र, फोटो तथा छपाई के व्यय का विवरण

42600-00 छपाई (प्रेस की मंजूरी) धवलाग्रंथ का आधा भाग बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में, धवलाग्रंथ का आधा भाग और जयधवला का आधा भाग कल्याण प्रेस-सोलापुर में, जयधवला पृष्ठ 664 गुरुकुल प्रिंटिग प्रेस-ब्यावर में, महाधवला पूर्ण-सिवनी में, जयधवला संपूर्ण पृष्ठ 1964 से 2300 सन्मति प्रेस-बाहुबली में। (शुरू में कई पृष्ठों का छपाई खर्च प्रतिपृष्ठ रु. 14 लगा)। 24575-00 कागज। 41200-00 ताम्रपत्र प्रोसेस का काम 1 श्रीपाद प्रोसेस वर्क्स, मुंबई में धवला बहुभाग दर रु. 11, 2 राऊ आणि कंपनी मुंबई, धवला का अल्पभाग, 3 झारापकर ब्रदर्स, मुंबई धवला, जयधवला दर प्रति पृष्ठ. 10 व 8। (ताम्रपत्रों पर दोनों बाजू पर अक्षरों को अंकित करने का काम क्रमशः प्रथम प्रतिष्ठा 14, 11, 10 व 8 लगा) ग्रंथों के पृष्ठ ताम्रपत्र देशी लेने से उस पर एक बाजू पर ही अक्षरों को अंकित करना पड़ा, इसलिए ताम्रपत्रों की संख्या बढ़ गयी।

18875-00 पंडितों का संशोधन वेतन, 10550-00 फोटो खर्च, 875-00 प्रवास, 4100-00 किरकोळ कुल खर्च 1,42,775-00।

श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की प्रतियाँ प्रकाश में आने का संक्षिप्त इतिहास

श्रीमान सेठ माणिकचंद पानाचंद जे.पी. मुंबई ईसवी सन् 1883 में ससंघ यात्रा करने मूडबिद्री गये थे। वहाँ उन्होंने रत्नों की प्रतिमाओं के दर्शन के साथ धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों का दर्शन किया। ताडपत्रीय सिद्धान्त ग्रंथ जीर्णशीर्ण अवस्था में हैं, यह बात सेठजी के सूक्ष्म दृष्टि में आयी। उन्होंने श्री माननीय भट्टारक जी तथा पंचों के साथ इस बाबत विचार-विमर्श किया। उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। श्रवणबेलगोला के पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री ही वे ग्रंथ पढ़ सकते हैं, यह जानकारी भी प्राप्त की। उन सिद्धान्तग्रंथों के जीर्णोद्धार का उनके मन में विचार उठा। यात्रा से वापिस लौटते ही उन्होंने श्री सेठ हीराचंद नेमचंद, सोलापुर को इन सिद्धान्तग्रंथों के बारे में समाचार दिया। वे अगले वर्ष में ईसवी

सन् 1941 में ब्रह्मसूरि शास्त्री को साथ लेकर मूडबिद्री गये। शास्त्री जी द्वारा सिद्धान्त ग्रंथ पढ़कर श्रवण किया। उनका जीर्णोद्धार कराने के अभिप्राय से पं. ब्रह्मसूरि शास्त्रीजी को उनकी प्रतिलिपि करने का आग्रह किया। इस बीच अजमेर के सेठ मूलचंद जी सोनी, पं. गोपालदासजी बरैय्या के साथ मूडबिद्री गये। वहाँ के भट्टारक तथा पंचों के साथ विचारविनिमय करके ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा प्रतिलिपि कराने का कार्य शुरू हुआ। करीब तीन सौ श्लोकों की प्रतिलिपि होने के पश्चात् कार्य स्थगित हुआ।

ईसवी सन् 1895 में सेठ मणिकचंद जी पानाचंद, सेठ हीराचंद नेमचंद आदि महानुभावों ने उन ग्रंथों की प्रतिलिपि कराने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए 14000रु. का चंदा इकट्ठा हुआ। पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री को मासिक 125 रु. तनख्वाह देकर कार्य का आरंभ हुआ। उनकी मदद के लिए मिरज के पं. गजपती को भेजा गया। श्री जयधवला की 1500 श्लोक प्रमाण हिस्से की प्रतिलिपि होने के पश्चात् पं. ब्रह्मसूरि के स्वास्थ्य में बिगाड़ होकर उनका स्वर्गवास हो गया। प्रतिलिपि का कार्य चालू था। पं. गजपति शास्त्री को नागरी लिपि में धवला, जयधवला की प्रतिलिपि का कार्य पूरा करने में सोलह साल लगे। उसी समय मूडबिद्री के पं. देवराज सेठी, शांतप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मय्य इन्द्र द्वारा उक्त ग्रंथों की कानडी लिपि में प्रतिलिपि कराई गई। महाधवला की कानडी प्रतिलिपि पं. नेमीराजजी द्वारा कराने का प्रबंध किया गया। 1918 में उसकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई। सेठ हीराचंद नेमचंद ने पं. लोकनाथ शास्त्री द्वारा महाधवला की देवनागरी लिपि में प्रतिलिपि करवाई। इस प्रकार सन् 1896 से 1922 तक यह कार्य चलता ही रहा। इस कार्य में करीब बीस हजार रुपये खर्च हुआ।

(शांतिसागर स्मृति ग्रंथ से साभार)

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की ताडपत्र पर तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों का परिचय

1) धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों की एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देश में मूडबिद्री नगर के गुरुवसदि नामक जैन मंदिर में वहाँ के भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचों के अधिकार में है। तीनों ग्रंथों की प्रतियाँ ताडपत्र पर कानडी लिपी में हैं। धवला के ताडपत्रों की लंबाई लगभग 2 फुट 3 इंच और कुल पत्रसंख्या 592 है। यह प्रति कब की लिखी हुई है, इसकी ठीक जानकारी प्राप्त नहीं होती किन्तु लिपि प्राचीन कानडी में है कि जो पाँच-छह शतक पुरानी है, ऐसा अनुमान किया जाता है। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेळगोळ नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। वहाँ से किसी समय ये ग्रंथ मूडबिद्री पहुँचे।

2) इस धवला की प्रति की कानडी प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इंद्र द्वारा सन् 1896 और 1916 के बीच की गयी थी। यह लगभग 14 इंच लंबे और 6 इंच चौड़े काश्मीरी कागज के 2800 पत्रों पर लिखी गई है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित हैं।

3) धवला के ताडपत्रों की नागरी प्रतिलिपि पं. गजपती उपाध्याय द्वारा सन् 1896 और 1916 के बीच में की गई थी। यह प्रति 15 इंच लम्बे और 10 इंच चौड़े काश्मीरी कागज के 1323 पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री गुरुवसदि मंदिर में है।

4) मूडबिद्री ताडपत्रों पर सन् 1896 और 1916 के बीच पं. गजपति उपाध्याय ने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायता से जो प्रतिलिपि गुप्त रीति से की थी, वह आधुनिक कानडी लिपि में कागज पर है। यह प्रति अब सहारनपुर में लाला प्रद्युम्न कुमार जी रईस के अधिकार में है।

5) पूर्वोक्त नं. 4 की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में पं. विजयचंद्रय्या और पं.सीतारामशास्त्री के द्वारा सन् 1916 और 1924 के बीच कराई गई थी। यह प्रति 12 इंच लंबे और 8 इंच चौड़े कागज के 1650 पत्रों में है। पूर्वोक्त नं.5 की नागरी प्रतिलिपि करते समय एक प्रति पं. सीतारामशास्त्री ने अपने पास रखी थी।

उस पर से पं. सीतारामशास्त्री जी ने अनेक प्रतियाँ की हैं, जो कारंजा, आरा, सागर, सोलापुर आदि स्थानों में विराजमान हैं। आगे भी इस पर से नागरी

लिपि में प्रतिलिपियाँ होती गयीं, लेकिन इन सब प्रतियों का मूल ताडपत्र से मिलान नहीं हुआ, उन्होंने मिलान नहीं किया इसलिए ताडपत्र के फोटो संस्था ने फोटोग्राफर भेजकर मंगवाए थे।

सोलापुर में सेठ रावजी सखाराम दोशी की प्रतिलिपि लेकर मूल ताडपत्र की प्रति से मिलान करने के लिए संस्था ने पं. लोकनाथ शास्त्री को मूडबिद्री भेजा था किन्तु उन्होंने ताडपत्रों से मिलान नहीं किया। इस कारण ताडपत्रों के फोटो संस्था ने फोटोग्राफर झारापकर को भेजकर मंगवाए, जो संस्था के दफ्तर में विद्यमान हैं।

भजन

प्रस्तुति-आर्यिका चन्दनामती

सन्तों का तुम्हें नमन है, युग पुरुषों का वन्दन है।
श्री चारित्रचक्रवर्ती गुरु, शत शत अभिवन्दन है।।
मुनिराज चरणवन्दन है, ऋषिराज............

आदिनाथ से महावीर तक जिनचर्या बतलाई।
कुन्दकुन्द ने उसी तरह की मुनिचर्या अपनाई।।
शांतिसिन्धु भी उसी श्रृंखला के ही लघुनन्दन हैं।
मुनिराज चरणवन्दन है, ऋषिराज.............।।१।।

दक्षिण भारत वसुन्धरा का है इतिहास गवाही।
भोजग्राम माँ सत्यवती का पुत्र मुक्तिपथ राही।।
प्रथम बने आचार्यप्रवर युगप्रमुख तुम्हें वन्दन है।
मुनिराज चरणवन्दन है, ऋषिराज..........।।२।।

लुप्तप्राय यतिचर्या को जीवन्त किया था तुमने।
नग्न दिगम्बर मुद्रा को श्रुतवंत किया था तुमने।।
इसीलिए "चन्दनामती" जग करता तब वन्दन है।
मुनिराज चरणवन्दन है, ऋषिराज............।।३।।

परिणत प्रज्ञाविवेक

परमपूज्य गुरुदेव श्री 108 समंतभद्रजींना पूर्वावस्थेमध्ये (सप्तम प्रतिमाधारी असताना) कित्येक वेळा त्यांनी मुनी व्हावे असा आग्रह सुरूच होता. अधूनमधून दर्शनाचा योग आला असता ही प्रेरणा व्हायचीच. ब्यावरला 'श्री' चा चातुर्मास होता. ब्र. देवचंदजी तेथे पोहोचले. त्यावेळीही निदान त्यांनी क्षुल्लकपद (11वी प्रतिमा) तरी घ्यावे असा आग्रह पडला. देवचंजींची आतून इच्छा होतीच. तथापि त्यांनी श्रींना सरळच विचारले, 'संस्थेची कामे करण्यास प्रत्यवाय नसला तर तयारी आहे.'

ब्र. जींची वृत्तिप्रवृत्ति 'श्री' परिपूर्ण ओळखून होते. त्यांनी हा प्रश्न उपस्थित पंडितवर्गापुढे ठेवला. थोडीशी पंरपरा लक्षात घेऊन शास्त्राधाराच्या भानगडीमध्ये न पडता पंडितजनांनी आपला एकतर्फी निर्णय पुढे ठेवला:-'महाराज! यांना एक तर दीक्षा घेता येईल किंवा संस्था पाहता येईल. दोन्ही नाही.'

'दोन्ही करण्यामध्ये शास्त्रविरोध असू नये असे मन सांगते' एवढेच देवचंद्रजी बोलत होते.

चार पास दिवस प्रश्न धसास लावूनही अनुकूल निर्णय बाहेर येत नाही हे पाहून ब्र. जी अखेरीस परत निघाले. प्रवेशद्वाराजवळ वाहन उभे करून अखेरीचे श्रींचे दर्शन घ्यावे म्हणून दर्शनास गेल्याबरोबर श्री म्हणाले-**'ब्रह्मचारीजी! आपणास क्षुल्लकपद स्वीकारता येईल व संस्थाही पाहता येईल. शास्त्रामध्ये संघातल्या काही मुनींकडे संघातील शिक्षणाची व इतरही व्यवस्थेची जबाबदारी असल्याची अनेक विधाने आहेत.**आपण तर केवळ क्षुल्लक पदच स्वीकारता आहात. तेव्हा आपणास पूर्ण परवानगी आहे' असे म्हणून आपला **पूर्ण परिणत प्रज्ञाविवेक** उपयोगास आणून समाजावर महान् उपकार केले असेच म्हणावे लागेल. अर्थात् हा प्रीव्ही कौन्सिलच्या निर्णयाप्रमाणे अखेरचा निर्णय ठरला. ब्र. देवचंदजींनी त्याच ठिकाणी दुसरे दिवशी क्षुल्लकपदाचा सानंद स्वीकार केला व श्रींनी त्यांचे नाव स्वयं प्रेरणेने **'समंतभद्र'** ठेवले.

पतिता नो रत्नवृष्टिः

आचार्यश्रींचे मुख शेडबाळच्या मुक्कामानंतर म्हसवडकडे म्हणजे उत्तरेकडेच वळले होते. नान्द्र येथे मुक्काम होता. यावेळी बाहुबली येथे होणाऱ्या रथयात्रेसंबंधी श्रींना कल्पना होतीच. बाहुबलीकरांनी येण्यासंबंधी प्रार्थनाही केली होती, परंतु

निर्णय घेतलेला नव्हता, उत्सवाचे आदले दिवशीच अंतःप्रेरणेने निर्णय घेऊन सकाळच्या सामायिकानंतर 16।17 मैलांची मजल तरुणालाही लाजवील अशा उत्साहाने एका दौडीमध्ये मारून संध्याकाळीच श्री बाहुबलीच्या परिसरात आले. दुसरे दिवशी श्रींनी आपला संकल्प व येण्याचा प्रधान हेतु प्रगट केला. सर्वांनाच आश्चर्य वाटले. बाहुबलीचे बृहज्जिनबिम्ब येथे क्षेत्रावर विराजमान व्हावयास पाहिजे व त्यासाठी सर्वांनी कृतसंकल्प असावे ही प्रेरणा होती, यात उभयपक्षी अन्यायाचे काही नव्हतेच. श्रींनी संस्था सर्व भागामध्ये फिरून पाहिली. विभागांची माहिती घेतली. उत्पन्न खर्चाची विचारणा केली. शिक्षण व इतर कामांची चौकशी केली व अत्यंत आस्थेवाईकपणे सर्व बाबी विचारून झाल्यावर मनःपूत संतोष व समाधान प्रगट करून अनंत आशीर्वाद दिले. संस्थेचे मंत्री श्री. बालचंद देवचंद व प्रमुख श्री. भीसीकर यांचेशी सर्व चर्चा झाल्यावर श्रीसमंतभद्र महाराजांना बोलवा म्हणाले. सर्वजण जमा झाल्यावर श्रीसमंतभद्रांना उद्देशून श्री म्हणाले, 'बाबारे! तुझी प्रकृती ओळखतो, वृत्तिप्रवृत्ती ओळखतो. मुनी झालात, आनंद आहे, सर्वसामान्य मुनिजनांसाठी एके ठिकाणी राहू नये, त्यांनी विहार करावा असे विधान आहे. **तथापि हे तीर्थक्षेत्र आहे, धर्मप्रभावनेचे काम सुरू आहे. तुम्ही एके ठिकाणी राहिला तरी चालेल! शिकविले तरी चालेल! संस्था पाहिली तरी चालेल! परंतु आत्म्याला विसरू नाका. तुम्हास उदंड आयुष्य प्राप्त होवो व धर्माची खूप प्रभावना होवो असा तुम्हाला व संस्थेला आमचा आशीर्वाद आहे.'** संस्थेची प्रमुख कार्यकर्ती मंडली उपस्थित होतीच. सर्वांनाच ही **'खात् पतिता नो रत्नवृष्टि'** असेच वाटले.

अस्पृश्योद्धाराचा मार्ग

प्रश्न —महाराज अस्पृश्योद्धाराचा खरा मार्ग कोणता?

आचार्यश्री —तुम्ही लोक बंगला-महाल-भवनादिकात रहाता, पण त्यांना नीट झोपड्या देखील उपलब्ध करून देत नाही. जीवनाचा उद्धार पापांच्या त्यागाने होतो. त्यांना मद्य, मांस व मधूचा त्याग करायला प्रवृत्त करा, त्यांची गरिबी दूर करा, गुन्हेगार प्रवृत्तीपासून त्यांना दूर सारा. शिकार-जीवहिंसा सोडवा.

हे सर्व करण्याऐवजी त्यांचेबरोबर केवळ सहभोजन करण्याने त्यांचा कसा काय उद्धार होणार हे आम्हाला समजत नाही. आमच्या अंतःकरणात त्यांच्या संबंधी अपरंपार दयाभाव आहे.

बाल विवाह प्रतिबंधक कानून के प्रेरक आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज

(''आध्यात्मिक ज्योति'' पुस्तक से साभार)

भारत सरकार के द्वारा बाल-विवाह कानून-निर्माण के बहुत समय पहले ही आचार्य महाराज की दृष्टि उस ओर गई थी। उनके ही प्रताप से कोल्हापुर राज्य में सर्वप्रथम बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून बना दिया गया था। इसकी मनोरंजक कथा इस प्रकार है।

कोल्हापुर के दीवान श्री लट्ठे दिगम्बर जैन भाई थे। लट्ठे की बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा महाराष्ट्र प्रान्त में व्याप्त थी। वहाँ आचार्यश्री विराजमान थे। दीवान बहादुर श्री लट्ठे प्रतिदिन सायंकाल के समय महाराज के दर्शनार्थ आया करते थे। एक दिन लट्ठे महाशय ने आकर आचार्यश्री के चरणों में प्रणाम किया। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए कहा–''तुमने पूर्व में पुण्य किया है, जिससे तुम इस राज्य के दीवान बने हो और दूसरे राज्यों में तुम्हारी बात का मान है। मेरा तुमसे कोई काम नहीं है। एक बात है, जिसके द्वारा तुम लोगों का कल्याण करा सकते हो। **एक -इस कारण, कोल्हापुर के राजा तुम्हारी बात को नहीं टालते।''** दीवान बहादुर लट्ठे ने कहा-''महाराज! मेरे योग्य सेवा सूचित करने की प्रार्थना है। महाराज–''छोटे-छोटे बच्चों की शादी की अनीति चल रही है। अबोध बालकों-बालिकाओं का विवाह हो जाता है। लड़के के मरने पर बालिका विधवा कहलाने लगती है। उस बालिका का भाग्य फूट जाता है। इससे तुम बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून बनाओ। इससे तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायेगा। इस काम में तनिक भी देर नहीं हो।'' कानून के श्रेष्ठ पंडित दीवान लट्ठे की आत्मा आचार्य महाराज की बात सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई। मन ही मन उन्होंने महाराज की उज्ज्वल सूझ की प्रशंसा की। गुरुदेव को उन्होंने यह अभिवचन दिया कि आपकी इच्छानुसार शीघ्र ही कार्य करने का प्रयत्न करूँगा।

दीवान श्री लट्ठे की कार्य-कुशलता –

गुरुदेव के चरणों को प्रणामकर लट्ठे साहब महाराजा कोल्हापुर के महल में पहुँचे। महाराजा साहब उस समय विश्राम कर रहे थे, फिर भी दीवान का आगमन सुनते ही बाहर आ गए। दीवान साहब ने कहा–''गुरु महाराज 'बाल-

विवाह-प्रतिबंधक कानून' बनाने को कह रहे हैं।''

राजा ने कहा–''तुम कानून बनाओ। मैं उस पर सही कर दूँगा।'' तुरन्त लट्ठे ने कानून का मसौदा तैयार किया। कोल्हापुर राज्य का सरकारी विशेष गजट निकाला गया, जिसमें कानून का मसौदा छपा था। प्रातःकाल योग्य समय पर उस मसौदे पर राजा के हस्ताक्षर हो गए, वह कानून बन गया। दोपहर के पश्चात् सरकारी घुड़सवार सुसज्जित हो एक कागज लेकर वहाँ पहुँचा, जहाँ आचार्य शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

लोग आश्चर्य में थे कि अशांति और उपद्रव के क्षेत्र में विचरण करने वाले ये शस्त्रसज्जित शाही सवार यहाँ शांति के सागर के पास क्यों आए हैं? महाराज के पास पहुँचकर उस शस्त्रालंकृत घुड़सवार ने उनको प्रणाम किया और उनके हाथ में एक राजमुद्रा अंकित बंद पत्र दिया गया। लोग आश्चर्य में निमग्न थे कि महाराज के पास सरकारी कागज आने का क्या कारण है? क्षणभर में कागज पढ़ने से ज्ञात हुआ कि उसमें महाराज को प्रणामपूर्वक यह सूचित किया गया था कि उनके पवित्र आदेश को ध्यान में रखकर कोल्हापुर सरकार ने बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून बना दिया है। महाराज के मुखमंडल पर एक अपूर्व आनंद की आभा अंकित हो गई।

भारत सरकार ने जब बाल-विवाह कानून पास किया था, तब समाज के स्थितिपालक दल के लोग उसको अयोग्य बताकर विरोध करते थे। सुधारक कहे जाने वाले भाई उसका स्वागत कर रहे थे। इस प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त कानून के विचार के जन्मदाता आचार्य महाराज थे। यथार्थ में वे बड़े प्रगतिशील तथा उज्जवल मौलिक विचारक थे। उन सरीखा सुधारक कौन हो सकता है? जिन्होंने असंयम तथा मिथ्यात्व के विषपान में निमग्न जगत् को रत्नत्रय की अमृत औषधि पिलाई।

-स्व. पं. सुमेरचंद दिवाकर
(सिवनी-म.प्र.)

दिगम्बर जैन आचार्यों एवं मुनियों का जन्मकल्याणक जुलूस में भाग लेना शास्त्रोक्त है!

(''आध्यात्मिक ज्योति'' पुस्तक से साभार)

कुछ समय चर्चा के उपरान्त महाराज (मुनि श्री वर्धमानसागर जी, जो आचार्य शांतिसागर महाराज के गृहस्थावस्था के ज्येष्ठ बंधु थे) भगवान के जन्मकल्याणक महोत्सव के लिए चले। वे साधुराज वृद्ध पितामह सदृश ईर्यापथशुद्धिपूर्वक बहुत धीरे-धीरे बड़ी सावधानी से पैर उठाते हुए दो सौ गज की दूरी पर स्थित विशाल पाण्डाल में पहुँचे। जन्मकल्याणक का पावन दृश्य देखकर भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आगत जनता हर्षित हो रही थी। चार दिगम्बर मुनिराज वहाँ थे। क्षुल्लक एवं आर्यिका आदि उच्च त्यागी समुदाय पचास से अधिक संख्या में उस पावन प्रसंग पर विद्यमान था। कोल्हापुर मठ के स्वामी क्षुल्लक जिनसेन महाराज तथा श्री भट्टारक लक्ष्मीसेन महाराज भी थे, जिनके तत्त्वावधान में पंचकल्याणक का कार्य हो रहा था। मैं भी शास्त्र में वर्णित जिनेन्द्र पंचकल्याणक और मेरु पर किये गये प्रभु के अभिषेक आदि के पावन प्रसंग को अपने स्मृति पटल में लाकर देखता था। मैं वर्धमानसागर महाराज के चरणों के पास ही बैठा था। बार-बार आँखें उनके मनोज्ञ वीतराग मुखमण्डल पर जाती थीं। एक प्रश्न मन में आया। कुछ देर तक तो मैंने उसे दबाया किन्तु तीव्र इच्छा होने पर मैंने वर्धमानसागर महाराज से निवेदन किया।

प्रश्न –''भगवान के जन्मकल्याणक का वैभव गृहस्थ आदि लौकिक जनों को स्वभावतः अच्छा लगेगा। आप परम तपस्वी हैं, इसलिए तपकल्याणक आपको प्रिय होना था, जन्मकल्याणक में आने से आपको क्या लाभ हुआ?''

पहले तो मैं सोचता था कि मेरा प्रश्न कहीं अर्थ का अनर्थ न कर दे; क्योंकि कभी-कभी कई विचित्र बुद्धिमान लोग ऐसा करके अमृत को विष बनाने में आनन्द लेते हैं; किन्तु यहाँ मुझे कोई भय नहीं था। कारण, मैं महाराज को जानता था कि वे शांति के सागर गुरुदेव के छोटे नहीं, बड़े भाई हैं। वे मुझे भी जानते थे, इसलिए मेरा प्रश्न महाराज ने बड़े प्रेम से सुना।

प्रश्न –''उन्होंने मुझ से पूछा, यह बताओ हम जगत् में हैं या जगत् के बाहर हैं?''

उत्तर –मैं गहरे विचार में पड़ गया कि महाराज क्या पूछ रहे हैं? मेरा प्रश्न कुछ और है और उस पर प्रतिप्रश्न कुछ विलक्षण है। क्या उत्तर दूँ ? सोचकर मैंने कहा–''महाराज! आप जगत् में हैं।''

तब उन्होंने कहा–''ठीक बात है, हम जगत् में हैं। तब जिनेन्द्र भगवान के जन्म होने पर सुर, असुर, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, नारकियों को भी सुख और शान्ति मिली; सभी जीवों को आनन्द मिला, तो बताओ हमको क्यों नहीं आनन्द मिलेगा?'' उनके उत्तर को सुनकर मैं तो आनन्दविभोर हो गया और मैंने उनकी साधुत्व से प्रेरणाप्राप्त प्रतिमा को प्रणाम किया। औरों को भी यह उत्तर सुनाया। सुनते ही सब बड़े प्रसन्न हुए।

-स्व. पं. सुमेरचंद दिवाकर
(सिवनी-म.प्र.)

The Embodiment of Peace-Charitra Chakravarti Acharya Shri Shantisagarji Maharaj
(quoted from the book 'Religion & peace')

From hoary antiquity India has been esteemed and venerated for her charming and divine philosophy and highly cultured saints. Countless inhabitants of the country had renounced their material comforts and amenities of life in order to drink deep at the blissful fountain of human life in extreme seclusion and attain their goal of deathless divinity, the summum bonum. It is they who by their pure and brilliant lives and sermons dispelled inner darkness and showed the infallible path of peace and rectitude.

Birth of noble soul :

Even in this age of lust and licentiousness and spiritual darkness a selfless and mighty soul named Acharya Shantisagarji Maharaj was born at Yelgula village Bhoj situated on the confluence of rivers Veda Ganga and Doodha Ganga in the Belgaum district in the month of July, 1870 (On the 6th day of the dark half of the month of Ashadha). His father Shri Bhim Gauda Patil was a rich, pious, talented, chivalrous and powerful landlord. He was a mighty personality, and was honoured by persons of all ranks. Mother Satyavati was a religious, charitable and saintly lady. This benevolent, honest and generous parentage had much influenced the life of our would-be saint, who was called Sata Gauda, which meant Lord of Peace. He had three brothers and one sister.

It is remarkable that the child had in him something unique, which indicated that he is destined to be a great and world-venerated figure. He was a child without being childish. He took no interest in the fun or frolic common to boyhood. He was fond of solitude and was used to meditation. He has a great love for virtue and virtuous persons. I had the good luck to be in contact with him for long.

In one of his reminiscences he had told me that he had some recollections of the past and that he was also in his previous life an ascetic; therefore he had the remarkable temperament of detachment from tem-

poral and evanescient pleasures of the world. Satagauda's physique was exceptionally good. He was robust, strong and sturdy like his father. He was a fine wrestler and had the reputation for his feats of valour. He possessed amazing memory, sharp intellect and philosophic mind. As a matter of fact he was a born saint, a great thinker, and a living philosopher, who might have been blessed with the majestic vision of reality. He had in him all those remarkable virtues and qualities which are indispensable for righteous sainthood. He had from his boyhood adopted the habit of speaking truth, love for all beings and keen interest in amazing austerities (to lead the life of a saint).

Soon after the demise of the father, his mother also died. This made his path quite clear to fulfil his noble ambition.

Spiritual preceptor :

Satagauhda without disclosing his mind left for Uttura village, where a life-long celibate and nude Saint renowned for his high spiritual attainments, Devendrakirti Maharaj alias Devappa Swami was staying. His Holiness Devappa Swami was not only a nude Jain saint, he was adorned with several miraculous attainments as a result of his supreme vow of celibacy and sparkling penances. Outworldly such noble souls appear without anything astonishing in them, yet their inner life is rich with extraordinary treasures, which the materialists cannot conceive in their branis.

One day in the afternoon His Holiness left for Gokak town of Mysore state. Due to nightfall in the way the saint had to stay over a hill infested with terrible beasts of prey. The saint had one Jain devotee with him. The nude Jain monk does not move from place to place in the night in due regard to his vow of absolute non-injury, therefore he said to his disciple, "This forest abounds in ferocious animals. It is just possible that some tiger or other wild beast may come here in the night. I shall be busy with my Dhyana-meditation; but you need not be terrified. I have drawn this circle with a piece of stone and we shall remain within this area. You need not go out of this spiritualised area; thus you will not get any kind of trouble." So saying the Saint commenced his meditation in that dreadful forest with equanimity and composure.

As the night advanced the roaring of the wild animals was echoing in mountainous area. Soon after a tiger came over that place. It moved

round the circle but could not break throught it. It terribly roared, whereby the disciple was nonplussed and confounded, but as per orders of the Master he carefully kept himself with in the limit of the circle.

The saint was unmoved by this roaring and terrifying noise. He was perfectly peaceful. After dawn the tiger went away. Due to the high attaniments of the saint no untoward incident took place. Because of such outstanding virtues Satagauda went to Devappa Swami and begged of him for being initiated into sainthood.

Devappa Swami apprised Satagauda of the arduous path of Supreme renunciation culminating in the abandonment of all garments and embracing nudity. Nudity is not an end in itself, it is the means to acquire that serenity and equanimity, which contribute to perpetual bliss. The truth is that to burn all the filth of passions and mental flaws the fire of concentration must be kindled to its highest capacity.

Initiation into Junior Monk-hood :

Satagauda thought over the entire matter as explained by the saint Devappa Swami and agreed to first become a junior monk called 'Kshullaka' who had to lessen his needs to the extent of a loin-cloth and a small piece of cloth. He was allowed to keep a brush of peacock feathers to protect the small insects that came in contact with his body or which needed protection. A wooden bowel was also permitted to keep water with a view to cleanse himself after answering the calls of nature etc.

Satagauda becomes Shantisagar :

Now with due religious ceremonies Devappa Swami initiated Sataguda into junior monk-hood with a view to prepare himself for the superior life of complete nudity. In keeping with his nature and mental equipment he was named Shantisagar, the Ocean of Peace. This function took place in the summer of 1918 on the 13th day of bright half of the month of Jyeshtha. This auspicious day gave the world a great saint, who will heal the wounds not of the body but of the soul.

Shantisagar Maharaj is no more the powerful and rich land-lord, but in fact he is the lord of himself. He has severed all bonds of affection or aversion. He is no longer a member of the Patil family of Bhoja. He has become a citizen of the world. He thought of establishing harmony in the hearts of all.

Nude Monkhood :

In the year 1915 there was a huge congregation of Jainas at Yernal village to witness the 'Pancha Kalyanaka Mahotsava'-a most sacred Jain religous function. On that auspicious occasion Shatisagar Maharaj was also present with his Guru-spiritual preceptor Devappa Swami. All eyes were concentrated upon this great soul Shantisagarji, who rose, touched the feet the Devappa Swami and implored for 'Muni Diksha'— initiation into the Order of holy nude monk.

The Master had already known of the rapid and extra-ordinary progress achieved by the novice, still reflecting upon the great responsibilities which one has to undergo after initiation into the holy order of nude monkhood. Devappa Swami reminded Shantisagarji of the hardships and difficulties which beset the path of the saint. The man, maddened by the liquor of infatuation, is not in a position to appreciate and comprehend the real position. This was a very serious affair. The preceptor apprised him of the whole thing.

Shantisagar Maharaj solemnly promised that he shall keep his vows intact even at the cost of his life. The whole congregation was overjoyed to hear the sublime resolution of Shantisagarji and they wholeheartedly commended the noble determination.

Memorable Coincidence:

The occasion was unique and memorable because that day the Diksha Kalyanaka of the idol of the Tirthankara was scheduled to take place at that sacred time. There was really unparalleled harmony of outward and internal circumstances. Reflecting upon the entire fact the preceptor condescended to fulfil the innermost and long cherished lofty longing of him. Now Shantisagar Maharaj had discarded his loin cloth and had become nude. In a moment this momentous initiation to the great spiriutal honour took place. Thousands of pepole deemed themselves extremely fortunate for witnessing this ceremony. Shantisagar Maharaj became nude physically as well as internally.

Ennobling influence :

Saint Shantisagarji was deeply engrossed in amazing penance. He used to observe long fasts. He was only taking milk and rice in the palm of his hands during the day time once in 24 hours or after a longer period

in the standing posture. He always kept the vow of silence in the night. He used to lie down on the ground during the night. He was ever active either in the study of scriptures, meditation or doing good to the people, who used to come for his discourses or blessings. He was very keen to abide by the code of conduct prescribed for saints in Jain sacred literature.

He used to pass his night and most of the day time in the forest or lonely places. He had no fear of the ferocious animals which infest the forest. He was moving undauntedly like a lion. He was a man of few precious and remarkable words, which had marvellous effect upon all to elevate and ennoble themselves. Every word of his was very impressive. It entered into the heart and had its desired effect. His glorious example made his precepts very enchanting. Whosoever came in his contact took several vows pertaining to non-violence, truth, non-stealing, chastity, limitations of possessions, honest and fair dealings, life of love and affection towards all beings and many other virtues which make an ideal man and useful citizen. What the powerful governments and other institutions failed to achieve, his mere contact and few words could easily produce that noble and salutary effect. Innumerable souls got enlightenment from him without the distinction of caste, creed or nationality.

Confunding Cobra Incident :

His fame as a great saint reached all corners of the country, when he was in a cave outside the village known as Konnur, district Kolhapur. It was the noon time when Shantisagar Maharaj was sitting inside a cave deeply engrossed in meditation. A big and terrible cobra came out of a bush close by and entered into the cave. The ferocious creature wound itself round the saint's neck for long. The saint was motionless like a statue. When in the after-noon several devotees went for the saint's darshan they were much amazed and impressed by the extraordinary sight. The snake was sometimes moving over the body to cause sufficient consternation and disturbance, but the saint did not mind the presence of the agent of death.

When I had once enquired of him about the snake incident, he said to me, "I was then immersed in meditation of the Siddhas-the bodyless perfect souls, therefore I had no idea of what was taking place outside. After the termination of my meditation the cobra had left the cave."

I further inquired of him if he had any kind of fear or uneasiness, he replied, "From my boyhood I never had any kind of fear either from snake or tiger or any other ferocious being." This outstanding incident, which was witnessed by several pepole brought into light the greatness of the saint. Thousands used to come for his darshan and blessings.

These astounding and amazing austerities of Shantisagar Maharaj were developing his personal magnetism. For several years he remained indulged in such hard austerities.

Preparation for Samadhi :

Since the great sage Acharya Shantisagar Maharaj was an uncommon figure, who had been blessed with the faculty of discrimination between self and non-self, he could easily start his preparations for the great fight with the demon of death. The first thing that he did was to devote most of his time in Samadhi-Self contemplation and meditation utterly forgetting the fact that he had the body.

In his meditation he fixed his attention upon the self, the treasure house of infinite virtues and everlasting joy. He has once told me, "When I am deeply engrossed in meditation, you do whatever you like with my body. I will not experience the physical pain or pleasure.

Places of Choice :

Acharya Maharaj had a desire to spend his last hours at the Parasnath hil in the Bihar State, for infinite souls had attained liberation therefrom. His second choice was for Pavapuri, the place of nirvana of Lord Mahavira, the revivor of Jainism but who is wrongly called the founder of Jainism. Pavapuri is a wonderful and sublime place.

However, from the beginning of his spiritual awakening he had a very high regard and respect for Brahmacharya-the vow of celibacy and so for the Kunthalgiri Hill. He said, "The hill was asociated with the Nirvana of two young princes, who were life-long celibates."

Encounter with Death :

Therefore Acharya Shantisagarji ultimately came to Kunthalgiri Tirtha just before the commencement of rainy season in 1954. The saint felt that this is the right time when he ought to lanuch upon the world astounding encounter with death. Life is most dear to all, but to the man of honour and principle death is not a terror, but it is a courteous comrade, whose arrival is eagerly awaited.

Self-Guidance :

Shantisagar Maharaj needed no outward guidance since his preparation for duel with death was complete. When I reached Kunthalgiri during the period of his samadhi and requested for service to me in the form of reading from the scriptures or delivering discourses as in the past, he said; "Now I do'nt need any guidance or outward help. I see all the sacred books shining before my mind's eye. I have resorted to the 'Ingini' type of Samadhi-maran from the 14th of August 1955." This is a very high type of death, wherein the saint forbids receiving help or assistance from others.

Last massage :

It was the 26th day of the fast when upon the request of the people the saint condescended to give his last and lasting message to the bewildered humanity for 22 minutes. In his memorable sermon the Saint of Ahimsa laid special stress upon the fact that the soul should try for its release from the bondage of material karmic shackles. He dealt with upon the great potency of self-control.

He said, "Oh, do'nt fear, exercise the principle of self-control in your life. Develop the faculty of discrimination. It is essential to cut the cord of transmigration and the series of deaths and births in the world. Your soul is distinctly separate from the souls of your so called relations. In fact the Jiva-soul is all alone. The jiva puts on different bodies and roams in this universe all alone. If the self tries to develop the habit of meditation and concentration, it will achieve the bliss of beatitude."

Universal Desire for Saint's Darshan:

Every day thousands of devotees-Jains and non-Jains were blessed with his 'darshan'-sacred glimpse, but in the end the people were disappointed since the condition of the body was taking a serious turn, still it was arranged that a queque be made so that one by one all may bless themselves by the sight of the greatest man of the spiritual world. The queque was about half a mile long. Thousands of males, females, boys and girls were awaiting for several hours with the intense longing for the noble sight even for a moment.

Last Moment :

Time was passing quickly. The last moment of the great saint was at hand. It was six o' clock when it appeared that there are very few moments

for the body to be without the breathing saint. When there were only ten minutes to seven on the 18th day of September, 1955, the sage slowly utterd the syllable "ॐ सिद्धाय नमः"—Om Siddhaya Namah—my salutations to the liberated souls, and the body became motion-less.

This great travel—Mahayatra took place when the morning sun was on the horizon. Words fail to depict the grief of the people when they learnt that today the great sage of Ahimsa, whom, the world venerated as Shantisagar Maharaj is no more. Long live Shantisagar Maharaj.

In his duel whith dreadful death he was in fact victorious, since he kept his vow of Ahimsa with all its supplementary vows intact against the onslaughts of death. The saint never moved in the night with due regard for his vow of non-injury even to small insects, therefore I surmise that on the eve of his final departure from this land of ours to far off unknown world his breath did not leave as long as the sun did not rise. To me it appears, that Death might have thought that this good old sage never moved in the night all his life, why should his vow be disturbed? Therefore the soul started on its final travel having seen the radiant sun on the horizon.

The religious rites were performed according to the Jain scriptures by Swami Lakshamisen Maharaj of Jain monastery at Kolhapur.

The news was flashed by the All India Radio, New Delhi in the noon. The entire nation was shocked. A mammoth condolence meeting was held in New Delhi, the capital of India. The Vice-President of Indian Goverment—Dr. S. Radhakrishnan presided.

He paid eloquent tributes to the great saint and observed; "It is very easy to talk about knowledge and renunciation, but it is very difficult to translate them into action. Acharya Shantisagarji Maharaj was a saint of very high order, upon whose blessings our world is living. He was one of those exceptional beings, whose spiritual greatness fashions bricks and mortar for the tall edifice of human civilisation. He has been a super-man, a prince among ascetics. His passing away is a loss to human race. Such people incarnate the spirit of our country."

"It is the sacred duty of every one to give a practical shape to the great ideals of the sage of Ahimsa."

May his memory live long and inspire the world for Self-realisation.

-Late Pt. Sumer Chand Diwaker,
Seoni (M.P.)

प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर काव्य कथानक

प्रस्तुति—प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

(अष्टान्हिका, गुरुपूर्णिमा या दशलक्षण आदि पर्व के अवसर पर इन काव्यों के माध्यम से आचार्यश्री के जीवन का मंचन भी कर सकते हैं)

(1)
जन्म, बाल विवाह एवं ब्रह्मचारी जीवन

भव्यात्माओं! संसार के रंगमंच पर अनन्त प्राणी अपना-अपना जीवन व्यतीत करके चले जाते हैं और पुनः पुनः चारों गति में परिभ्रमण करते हुए चौरासी लाख योनियों में दुःख भोगते रहते हैं।

कभी कोई बिरले पुण्यात्मा जीव होते हैं जो मानव जीवन में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर अपने जन्म को सार्थक कर लेते हैं। ऐसे पुण्यात्मा जीवों में एक थे- बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी मुनि महाराज। जिन्होंने दिगम्बर जैन मुनियों की निर्दोष चर्या का पालन करके मुनि परम्परा का पुनरुद्धार किया।

प्रस्तुत है उन्हीं गुरूणां गुरु का संक्षिप्त जीवनवृत्त—

सुनो हम कथा सुनाते हैं-2,
प्रथमाचार्य शांतिसागर की, गाथा गाते हैं।। सुनो...।।टेक.।।

दक्षिण भारत के भोजग्राम, में भीमगौंड पाटिल थे।
वे सत्यवती पत्नी के, संग सुखदुख में शामिल थे।।
उन्हीं का पुण्य बताते हैं,
इस पुत्र को दे जन्म बड़ा वे हर्ष मनाते हैं।।सुनो..।।1।।

सन् अट्ठारह सौ बहत्तर, आषाढ़ कृष्ण षष्ठी थी।
तेजस्वी बालक को पा, माँ सत्यवती हर्षी थीं।
दान तब पिता लुटाते हैं,
नाम सातगौंडा रख पुत्र का, उत्सव मनाते हैं।।सुनो..।।2।।

शैशव से बाल्य अवस्था, पाई बालक ने जैसे।
इक कन्या के संग उसका, रच दिया ब्याह बस सबने।।

दुखद इक बात बताते हैं,
पत्नी की मृत्यू छह मास के ही बाद दिखाते हैं।।सुनो..।।3।।

इस बाल विवाह से उनका, संबंध न कोई रहा था।
ब्रह्मचारी रहकर उनने, दूजा न विवाह किया था।।
सातगौंडा बतलाते हैं,
जिनधर्म की रक्षा के लिए वे आगे आते हैं।।सुनो..।।4।।

पितुमात के मोह के कारण, घर त्याग नहीं कर पाए।
लेकिन स्वाध्यायादिक कर, नित मन वैराग्य बढ़ाए।।
धर्म का पथ अपनाते हैं,
वे ''चंदनामति'' माता-पिता का मन न दुखाते हैं।।सुनो..।।5।।

(2)
गृहस्थ जीवन एवं परोपकार भावना

बंधुओं! आपने बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के विषय में प्रारंभिक जानकारी प्राप्त की है कि दक्षिण भारत में उनका जन्म हुआ था। पुनः 9 वर्ष की अल्प आयु में ही उनका विवाह एक 6 वर्ष की कन्या से कर दिया गया और वह भी 6 माह के बाद मृत्यु का ग्रास बन गई अर्थात् उस युग में बालविवाह की परम्परा भारत की धरा पर पनप रही थी, जिस पर आगे चलकर सरकारी स्तर पर विरोध कानून भी लागू हुआ है।

सातगौंडा नाम के बालक ने उसके बाद समझदार होने पर भी दूसरा विवाह नहीं किया अतः उनका पूरा जीवन बालब्रह्मचारी के रूप में ही व्यतीत हुआ।

उन्होंने 40 वर्ष तक घर में ही माता-पिता के पास रहकर अपना जीवन किस प्रकार कर्तव्यपालन में व्यतीत किया, यह आप सुनें इस काव्य में—

तर्ज—आओ बच्चों.....

आवो बन्धू! तुम्हें बताएँ, परिचय प्रथमाचार्य का।
श्री चारित्रचक्रवर्ती, शांतीसागर आचार्य का।।
वन्दे गुरुवरं, वन्दे मुनिवरं-वंदे गुरुवरं, वंदे मुनिवरम्।।टेक.।।

देव-शास्त्र-गुरु भक्त युवक थे, श्री सातगौंडा पाटिल।
मात-पिता की सेवा करके, जीत लिया था उनका दिल।।

कहते हैं उनके जीवन में, धैर्य व शौर्य अपार था।
श्री चारित्रचक्रवर्ती, शांतीसागर आचार्य का।।
वन्दे गुरुवरं, वन्दे मुनिवरं-वंदे गुरुवरं, वंदे मुनिवरम्।।1।।

गाँव के श्रावक दिन भर खेत में, खेती करने जाते थे।
लेकिन सातगौंड पाटिल, दो घंटे खेत पे जाते थे।।
फिर भी उनको फसल से अपनी, मिलता खूब अनाज था।
श्री चारित्रचक्रवर्ती, शांतीसागर आचार्य का।।
वन्दे गुरुवरं, वन्दे मुनिवरं-वंदे गुरुवरं, वंदे मुनिवरम्।।2।।

खेत में पक्षी दाना चुगते, उनको नहीं भगाते थे।
पानी भी उनको देकर, पक्षियों की प्यास बुझाते थे।।
इसी दया के कारण उनका, भरा सदा भण्डार था।
श्री चारित्रचक्रवर्ती, शांतीसागर आचार्य का।।
वन्दे गुरुवरं, वन्दे मुनिवरं-वंदे गुरुवरं, वंदे मुनिवरम्।।3।।

उनका पुण्यपुराण 'चन्दनामती' जगत में गूँज रहा।
प्रौढ़-युवावस्था में उनको, ज्ञान लाभ भी खूब रहा।।
उनके मन में तो दीक्षा, लेने का पुण्य विचार था।
श्री चारित्रचक्रवर्ती, शांतीसागर आचार्य का।।
वन्दे गुरुवरं, वन्दे मुनिवरं-वंदे गुरुवरं, वंदे मुनिवरम्।।4।।

(3)
क्षुल्लक एवं मुनि दीक्षा

प्यारे भाईयों एवं बहनों! परोपकार की उत्कट भावना से ओतप्रोत सातगौंडा पाटिल का पुण्य प्रभाव आपने सुना और जाना है कि वे पशु-पक्षियों तक के प्रति भी कितनी करुणा प्रदर्शित करते थे।

आगे जाकर सन् 1912 तक उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया, उनके दोनों बड़े भाइयों का विवाह हो गया। फिर वे स्वतंत्र होकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हो गये अर्थात् अब उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा के लिए कदम बढ़ाए, उसी का प्रतिफल रहा कि हम सबने पाया शांतिसागर नामक एक जिनशासन सूर्य–

तर्ज–अरे रे.........

सुनो इक संत कहानी, कहूँ निर्ग्रन्थ कहानी, श्री शांतिसागर मुनिराज की।।
शांतिसागर शांतिसागर बोलो बारम्बार, बोलो सभी मिलके उनकी जयजयकार।
मुनिचर्या इनसे ही हुई है साकार, उन गुरूणां गुरु को है नमस्कार।।
सुनो.।।टेक.।।

ईसवी सन् उन्निस सौ बारह तक में, उनके माता-पिता गये स्वर्गलोक में।
उनके सभी भाइयों का ब्याह हो गया, सातगौंडा को अब घर से मोह न रहा।।
सुनो.।।1।।

सन उन्निस सौ चौदह ज्येष्ठ शुक्ला तेरस थी, उत्तूर में आये देवेन्द्रकीर्ति मुनि श्री।
उनसे विनयपूर्वक क्षुल्लक दीक्षा ले लिया, अपनी मनोकामना को पूर्ण कर लिया।।
सुनो.।।2।।

फिर तो कई नगरों का उद्धार हो गया, क्षुल्लक सातगौंडा का प्रचार हो गया।
सन् उन्निस सौ बीस में यरनाल आ गये, वहाँ अपने गुरु जी को फिर से पा गये।
सुनो.।।3।।

गुरुवर से दीक्षा का निवेदन किया था, अपने त्याग भाव का प्रदर्शन किया था।
फाल्गुन शुक्ला चौदस मुनिदीक्षा हो गई, शांतिसागर नाम से प्रसिद्धी हो गई।।
सुनो.।।4।।

पुनः मूलाचार आदि ग्रंथ पढ़ लिया, अपने गुरु को भी उसी रूप कर लिया।
यह थी मुनि शांतिसागर की विशेषता, ''चन्दनामती'' ये रत्नत्रय का तेज था।।
सुनो.।।5।।

(4)
सर्प उपसर्ग, दो शिष्यों का समागम एवं आचार्यपद

जय बोलो प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज की जय।

मुनियों की सच्ची चर्या का पालन किया था मुनि श्री शांतिसागर जी ने, उनकी साक्षात् चर्या को अपनी आँखों से देखने वाले लोग आज भी देश में विद्यमान हैं। हम सभी चतुर्थकाल के मुनियों की बात तो सुनते और पढ़ते हैं कि अग्नि- उपसर्ग, पशु आदि के उपसर्गों को मुनिगण सहन करते थे किन्तु पंचमकाल के इस युग में भी सर्प, मनुष्य और चीटियों का उपसर्ग सहने वाले आचार्य शांतिसागर महाराज सचमुच ही जिनकल्पी मुनियों की प्रतिकृति थे।

तर्ज–तीरथ करने चली सती.....

दीक्षा लेकर बने शांतिसागर निजकर्म जलाने को।
कैसे होते हैं मुनिवर, यह बतला दिया जमाने को।।दीक्षा..।।टेक.।।

एक बार कोन्नूर गुफा में, शांतिसिंधु ध्यानस्थ हुए।
नागराज आकर मुनिवर के, पावन तन पर भ्रमण करे।।
मानो वे पाषाण बन गये, निज आतम निधि पाने को
निज आतम निधि पाने को......।।दीक्षा...।।1।।

दो ब्रह्मचारी एक बार, मुनिवर के सम्मुख पहुँच गये।
बोले कलियुग में नहिं ऋद्धि, अतः आप मुनिवर नहिं हैं।।
गुरु ने आम्रवृक्ष का उदाहरण, दिया उन्हें समझाने को,
दिया उन्हें समझाने को।।दीक्षा...।।2।।

वे ही आगे बने वीरसागर व चन्द्रसागर मुनिवर।
शांतिसिंधु जैसा गुरु पाकर, किया उन्होंने जन्म सफल।।
बने तभी आचार्य प्रथम वे, चउविध संघ चलाने को,
चउविध संघ चलाने को।।दीक्षा...।।3।।

संघ सहित करके विहार, गुरुवर कुंथलगिरि पहुँच गये।
वहाँ देशभूषण कुलभूषण, मुनि चरणों के दर्श किये।।
उनकी प्रतिमा बनवाई, उनका इतिहास बताने को,
उनका इतिहास बताने को।।दीक्षा...।।4।।

जिनशासन का भाग्य खिल गया, ऐसे तपसी गुरु पाकर।
सहे बहुत उपसर्ग परीषह, गुरुवर ने मुनि पद पाकर।।
बने ''चन्दनामती'' और भी, मुनि मुक्तीपद पाने को,
मुनी मुक्तिपद पाने को।।दीक्षा...।।5।।

(5)

सेठ पूनमचंद घासीलाल द्वारा अणुव्रत ग्रहण एवं संघ भक्त बनकर मुनिसंघ को सम्मेदशिखर यात्रा कराना

भव्यात्माओं! जिनशासन के इस सूर्य का प्रकाश पूरी धरती पर फैला और कई भव्यात्माओं ने मुनिदीक्षा धारणकर आचार्य शांतिसागर महाराज को अपना गुरु बनाया।

आचार्यश्री के सान्निध्य को पाकर कई श्रावकों ने अणुव्रत भी धारण किये, उनमें से बम्बई के एक सेठ पूनमचंद घासीलाल का नाम बहुत प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है।

सन् 1927 में आचार्यश्री ने सप्तऋषि मुनियों के साथ संघ सहित दक्षिण से उत्तर भारत की ओर विहार किया था उसका संक्षिप्त कथानक इस काव्य कथा के माध्यम से प्रस्तुत है–

तर्ज–चलो सम्मेदशिखर चालो........

सुनो इक पुण्यकथा सुन लो, पंचअणुव्रत की कथा सुन लो,
अणुव्रत का अतिशय लख तुम अणुव्रत धारण कर लो।।सुनो...।।टेक.।।

इक श्रावक ने गुरु से पंचअणुव्रत ग्रहण किया।
सत्य अहिंसा अरु अचौर्य, ब्रह्मचर्य का नियम लिया।।
परिग्रह का प्रमाण सुन लो,
पाँच पाप स्थूल त्याग का, चमत्कार सुन लो।।सुनो..।।1।।

परिग्रह सीमा बढ़ी तो श्रावक, मुनिसंघ में आए।
वे पूनमचंद घासीलाल जी, श्रेष्ठी कहलाए।।
गुरुभक्ती की कथा सुन लो,
श्री सम्मेदशिखर यात्रा का, भाव बना सुन लो।।सुनो..।।2।।

श्री आचार्य शांतिसागर का, संघ चला आगे।
संघभक्त वे श्रावक भी चले, यात्रा करवाने।।
यही इतिहास सभी सुन लो,
उत्तर भारत में मुनिसंघ विहार कथा सुन लो।।सुनो..।।3।।

यह सम्मेदशिखर की यात्रा, बनी चमत्कारी।
प्रथम पंचकल्याण महोत्सव, हुआ वहाँ भारी।।
गुरु उपकार कथा सुन लो,
परतंत्र के युग में स्वतंत्र मुनि संघ कथा सुन लो।।सुनो..।।4।।

राजाखेड़ा में प्राणांतक, हमला हुआ संघ पर।
फिर भी अभयदान दे सबको, क्षमा धरी उन पर।।
गुरु की महिमा तुम सुन लो,
संकट अरु उपसर्ग सहन की, शक्ति प्रगट कर लो।।सुनो..।।5।।

संघपती जौहरी श्री मोतीलाल ने दीक्षा ली।
जिनमंदिर बनवा गेंदनमल, ने भी दीक्षा ली।।
यही संस्कार कथा सुन लो,
ऐसे गुरु के चरण ''चन्दनामती'' सदा नम लो।।सुनो..।।6।।

(6)

बाहुबली प्रतिमा निर्माण एवं षट्खण्डागम को ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण करने की प्रेरणा

कहते हैं कि ''गुरु की महिमा वरणी न जाय, गुरु नाम जपो मन वचन काय'' अर्थात् एक गुरु के निमित्त से न जाने कितने प्राणियों का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वे हैवान से इंसान ही क्या भगवान् तक भी बन जाते हैं।

इसी प्रकार आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने जहाँ अनेक गृहस्थ मनुष्यों को सदाचारी बनाया, अनेक श्रावक-श्राविकाओं को व्रती, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका बनाया, वहीं उन्होंने कुम्भोज में भगवान बाहुबली की प्रतिमा निर्माण हेतु प्रेरणा दी, षट्खण्डागम ग्रंथ को ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण कराकर उसे युग-युग के लिए स्थायित्व प्रदान किया। इन्हीं सब बातों का वर्णन है इस काव्य कथानक में–

तर्ज–एक था बुल और एक थी बुलबुल.....

प्रथमाचार्य शांतिसागर की, गुणगाथा सब मिल गाओ।
हे भव्यात्मन्! उनकी गौरव-गाथा सबको बतलाओ।।प्रथमाचार्य.....।।टेक.।।

श्री कुम्भोज में बाहुबली, प्रतिमा निर्माण प्रेरणा दी।
श्री समन्तभद्र मुनिवर को, तीर्थ विकास प्रेरणा दी।।
कहा उन्होंने कल्पवृक्ष सम प्रतिमा तीर्थ पे पधराओ।।प्रथमाचार्य....।।1।।

सन् उन्निस सौ चव्वालिस में, गुरुवर को यह ज्ञात हुआ।
ताड़पत्र पर लिखित धवल, ग्रंथों का बहुतहि घात हुआ।।
बोले श्रुत की रक्षा हेतू विद्वानों को बुलवाओ।।प्रथमाचार्य....।।2।।

संघपती ने खोज कराकर, उन ग्रंथों को मंगवाया।
ताम्रपट्ट पर उत्कीरण कर, उन्हें सुरक्षित करवाया।।
गुरु ने कहा अब हिन्दी में अनुवाद सभी का करवाओ।।प्रथमाचार्य....।।3।।

श्रुतरक्षा के प्रति गुरु का, उपकार सदा स्मरण करो।
फल्टण अरु बम्बई में विराजित, उन ग्रंथों को नमन करो।।
अपने मंदिर में भी हिन्दी सहित ग्रंथ को पधराओ।।प्रथमाचार्य....।।4।।

हीरक जन्म महोत्सव गुरु का, फल्टन नगरी में आया।
हाथी पर धवला ग्रंथों का, महाजुलूस निकलवाया।।
आज भी तुम ''चन्दनामती'' गुरु उपकारों को दरशाओ।।प्रथमाचार्य....।।5।।

(7)

आचार्य शांतिसागर जी का अंतिम प्रवचन

महानुभावों! आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने क्षुल्लक और ऐलक अवस्था में 6 वर्ष बिताए और मुनि अवस्था में 35 वर्ष 6 माह तक कठिन तपस्या की। अर्थात् 41 वर्ष 6 माह का उनका जीवन पिच्छी-कमण्डलु सहित व्यतीत हुआ तथा लगभग इतना ही समय उनका घर में भी वैराग्य भाव के साथ बीता था। मतलब यह है कि लगभग 82 वर्ष की आयु तक आचार्यश्री मनुष्य पर्याय में रहे और अंतिम समाधि से 10 दिन पूर्व 26वें उपवास में उन्होंने अपना अंतिम संदेश सम्पूर्ण जैन समाज के लिए प्रस्तुत किया था, जो टेपरेकार्डर में रेकार्ड हुआ और आज भी कैसेट-सी.डी. आदि के माध्यम से सुना जाता है–

तर्ज–माई रे माई........

प्रथमाचार्य शांतिसागर का, अन्तिम प्रवचन सुन लो।
हो जाएगा जन्म सफल, गुरुवाणी मन में धर लो।।
बोलो गुरुवाणी की जय, बोलो जिनवाणी की जय।।टेक.।।

जिनवर के लघु नन्दन मुनिवर, मुनिव्रत पालन करते।
उग्र-उग्र तप करने हेतू, किये अनेकों व्रत थे।।
दस हजार उपवास की संख्या, सुनकर चिंतन कर लो।
हो जाएगा जन्म सफल, गुरुवाणी मन में धर लो।।
बोलो गुरुवाणी की जय, बोलो जिनवाणी की जय।।1।।

बारह वर्षीय सल्लेखना, धारण की थी गुरुवर ने।
अन्त समाधि से दस दिन पहले, प्रवचन किया था उनने।।

वही अमर संदेश था अंतिम, ध्यान से उसको सुन लो।
हो जाएगा जन्म सफल, गुरुवाणी मन में धर लो।।
बोलो गुरुवाणी की जय, बोलो जिनवाणी की जय।।2।।
वीर सिन्धु मुनिवर को अपना पट्टाचार्य बनाया।
संघपती से पत्र लिखाकर जयपुर में भिजवाया।।
पट्टाचार्य प्रथम की महिमा, भी ग्रंथों में पढ़ लो।
हो जाएगा जन्म सफल, गुरुवाणी मन में धर लो।।
बोलो गुरुवाणी की जय, बोलो जिनवाणी की जय।।3।।
बिन संयम सम्यक्त्व के जीवन, में संभव न समाधी।
संयम धारण करो-डरो मत, मिटेगी तब भव व्याधी।।
कहा धर्म का मूल दया, 'चन्दनामती' सब सुन लो।
हो जाएगा जन्म सफल, गुरुवाणी मन में धर लो।।
बोलो गुरुवाणी की जय, बोलो जिनवाणी की जय।।4।।

(8)

आचार्य की समाधि एवं ज्ञानमती माताजी को गुरुदेव का दर्शन लाभ

बंधुवर! यह संक्षिप्त जीवन परिचय और आचार्यश्री का कृतित्व कुछ काव्यों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।

सन् 1955 में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज ने कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यमसल्लेखना ली थी। आज उनकी औदारिक काया संसार में हमारे साक्ष नहीं है किन्तु उनकी अमर यशःकाया सदैव जीवन्त रहेगी अतः उनके उपदेशों केअमल में लाकर सदैव गुरु भक्ति करते हुए अपने जीवन को सफल बनाने हेतु गुरुवरकीअंतिम समाधि का चित्रण इस काव्य कथानक के माध्यम से श्रवण कीजिए-

तर्ज-धीरे धीरे बोल.........

शांतिसिन्धु सूरिवर की वंदना करूँ,
वंदना करूँ-गुरुवन्दना करूँ।
वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।शांतिसिंधु...।।टेक.।।
सन् उन्निस सौ पचपन में कुंथलगिरि,
पर्वत पर अन्तिम समाधि घोषित करी।

जन सागर उमड़ा कुंथलगिरि तीर्थ पर,
लाखों जनता धन्य हुई गुरु दर्श कर।।
वन्दन करूँ, सुमिरन करूँ, वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।
शांतिसिंधु...।।1।।
ज्ञानमती माताजी थीं तब क्षुल्लिका,
गुरु समाधि दर्शन हेतू पहुँची वहाँ।
संग में एक विशालमती थीं क्षुल्लिका,
और न जाने कितने श्रावक श्राविका।।
वंदन करूँ, सुमिरन करूँ, वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।
शांतिसिंधु...।।2।।
छत्तिस दिन की यम सल्लेखना पूर्ण की,
भादों शुक्ला दुतिया की तिथि आ गई।
कहा ''ॐ सिद्धाय नमः'' बस चल दिये,
नश्वर तन को छोड़ स्वर्ग में बस गये।।
वंदन करूँ, सुमिरन करूँ, वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।
शांतिसिंधु...।।3।।
धर्मसूर्य हो गया अस्त मानो यहाँ,
किन्तु रश्मियों को अपनी बिखरा गया।
इसीलिए मुनि परम्परा जीवन्त है,
तभी ''चन्दनामती'' धरा पर सन्त हैं।।
वंदन करूँ, सुमिरन करूँ, वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।
शांतिसिंधु...।।4।।
शांतिसागराचार्य वर्ष यह चल रहा,
गुरुवर का उपकार स्मरण कर रहा।
ज्ञानमती माताजी की सम्प्रेरणा,
है यह सबके मन में जागे चेतना।।
वंदन करूँ, सुमिरन करूँ, वे प्रथमाचार्य महान थे, इस युग के लिए वरदान थे।।
शांतिसिंधु...।।5।।